ओम् राम

श्री सद्गुरु कबीर साहबका

साखी ग्रन्थ

(द्वितीय भाग)



श्री सद्गुरु कबीर हनुमत् साहित्य सभा

ट्रस्ट, वड़ोदरा, (गुजरात)

3.5

॥ सत्यनाम ॥

॥ સંત સંત મોડ હૈ ગુરુ ॥

પૂજ્યશ્રી ગુરુદેવ આચાર્ય પં. ડૉ. મંદાકુમુલાલજી ગોસ્વામી ને આ પુસ્તકો મે

સાદર

ભેટ

[illegible]

૧૧।૧૧।૮૬

* ओम् राम *

॥ श्री सद्गुरु चरणकमलेभ्यो नमः ॥

—: श्री सद्गुरु कबीर हनुमत् साहित्य सभा निर्मित :—

ग्रन्थमाला का षष्ठ पुष्प

श्री सद्गुरु कबीर साहबका

साखी-ग्रन्थ

(द्वितीय भाग)

परम पूज्य ब्रह्मविद्वरिष्ठ सद्गुरु श्रीमान् स्वामी
श्री हनुमानदासजी साहब षट्शास्त्रीजी कृत
संक्षिप्त सारबोधिनी टीका सहित

सम्पादक :—
परमपूज्य प्रातः स्मरणीय अनन्त श्री स्वामी
श्री हनुमानदासजी साहब षट्शास्त्रीजी

प्रकाशक :—
श्री सद्गुरु कबीर हनुमत् साहित्य सभा ट्रस्ट
वड़ोदरा (गुजरात)
सन्—१९८५

पुस्तक प्राप्ति स्थान :—

१—श्री १०८ महन्त रामदासजी साहब,
अध्यक्ष, श्री सद्गुरु कबीर हनुमत् पुस्तकालय ट्रस्ट,
ठि. के ६७।६६ ए, महेश कोलोनी,
ईश्वरगंगी, वाराणसी (उ० प्र०) २२१००१

२—श्री चन्द्रकान्त मणिलाल महेता, एलएल. बी.
रीटायर्ड जज,
ठि. रावपुरा कोठी के पास, शास्त्री पोल के समीप,
बड़ोदरा (गुजरात) ३९०००१

द्वितीय संस्करण १००० प्रति
विजयादशमी, ओक्टोबर २३, १९८५

सहयोग राशि रू० ५-००

मुद्रक :—
वैजनाथ प्रसाद
कल्पना प्रेस, रामकटोरा रोड,
वाराणसी ।

अन्त के पाठान्तर है ॥१८॥ जो कुछ विचार कर ज्ञानावस्था में करता है, सो पाप पुण्य से न्यारा ही होता है, वह एक ब्रह्मात्मा को जान कर पूर्ण पुरुष के दरबार (स्वरूप) में जाता है ॥ १९ ॥ सब घट में एक अन्तर्यामी है, ऐसा विचार अनुभव जब जिस को हुआ, तब उस हंस (जीव) के अन्तरगत भक्ति को जानकर वह अन्तर्यामी ही संसार सागर से पार उतारता है ॥ २० ॥

आजा के घर अजर है, बेटा के शिर भार।
तीन लोक नाती ठगै, पंडित करो विचार ॥ २१ ॥

श्वांस चौरासी धर्म की, स्वासा एक हमार।
नीर पवन के संग है, श्वांसा देख विचार। २२। ।

श्वांस हमारा आदि का, ताका करो विचार।
आदि अन्त सब जानये, हाथ पडै टकसार ॥ २३ ॥

जहां झूठ तहँ मीठ है, सोचि क हृदय विचार।
आपै आप ठगावते, निश्चय नाम सँभार ॥ २४ ॥

आजा (पितामह-ब्रह्मा) के घर (आश्रय) ब्रह्म, तथा अजा (प्रकृति-माया) का अधिष्ठान ब्रह्म अजर (निर्विकार) है, बेटा (अन्तर्यामी) ईश्वर के शिर पर सब संसार का भार है, और कामादियुक्त मन त्रिगुणमय देवादि रूप नाती तीनों लोक को ठगते हैं, इससे बचने के लिये विचार कर देखो ॥ २१ ॥ चौरासी लक्ष योनि के सब श्वांस (प्राणी) धर्म राज के अधीन हैं, एक मनुष्य योनि के श्वास गुरु उपदेश के अधिकारी है, सो श्वासा जल वायु के साथ में है (भूतों के अधीन कर्मादि वश हुआ है) उसे विचार कर समझो ॥ २२ ॥ हमारा ही श्वांस आदि का है, मनुष्य के कर्मादि के अधीन ही प्रायः संसार है, तिसका विचार करो क्योंकि आदि अन्त को विचार द्वारा जानने से टकसार (सत्य) हाथ पड़ता (मिलता) है ॥ २३ ॥ विचार

विना झूठ ही प्रिय है, इससे अपने आप ठगाता है, इससे शोच कर हृदय में विचारो, और निश्चय करके नाम सँभारो (भजो) ।। २४ ।।

चार चोर चोरी गये, लै पग पनहि उतार।
चारो दर थूनी हनी, पंडित करो विचार ।। २५ ।।

रंगहि ते रंग उपजै, सब रंग देखा एक।
कौन रग है जीवका, ताका करो विवेक ।। २६ ।।

कर बन्दगी विवेक की, वेष धरै सब कोय।
सो वन्दगि वहि जान दे, शब्द विवेक न होय ।। २७ ।।

ज्ञानी का मैं गुरु अहौं, मूरख का मैं दास।
ठेंगाठेंगी[1] जहँ लखौं, दांते पकरौं घास ।। २८ ।।

विचार नाम सँभार विना चारों अन्तःकरण रूप चोर चोरी (अधर्म) के लिये गये हैं, सो विवेकादि रूप पैर के पनही (जूता) उतार लिये हैं, हे पंडित जन ! चारों दर (स्थान) में धारणादि रूप थूनी (स्तम्भ) हनी (स्थिर कर) के विचार करो ।। २५ ।। मनुष्यादि शरीर रूप रंग से शरीर ही उत्पन्न होता है, उस सब रंग (देह) को एक माया रूप देखा गया है इन सब रंगों से भिन्न जीव का कौन रंग है, उसका विचारादि से विवेक करो ।। २६ ।। विवेक के लिये विवेक की ही बन्दगी सद्गुरु सन्तों की करो, वेष तो विवेकी अविवेकी सब धर लेते हैं, तहाँ उस बन्दगी को त्याग दो कि जहाँ सारासारादि शब्द का भी विवेक नहीं हो ।। २७ ।। मैं भी ज्ञानी (विवेकी) का गुरु हूँ, मूर्खों का दास हूँ (शरीर से उनकी सेवा कर सकता हूँ परन्तु उपदेश नहीं कर सकता) जहाँ ठेंगाठेंगी (लाठी से मार) दण्डा-दण्डी देखता हूँ, तहाँ दांत से घांस पकड़ता हूँ। मौन धारण करके वहाँ से चलता हूँ ।। २८ ।।

१ दण्डादाण्डी

नर पशु गुरु पशु वेद पशू, त्रिया पशू संसार।
[1]कहैं कविर सो पशु नहीं, जाके विमल विचार ॥ २९ ॥

आचारी सब जग मिला, विचारि मिला न कोय।
कोटि अचारी वारिये, एक विचारी होय ॥ ३० ॥

अपने विचार विना तथा धर्माधर्म सत्यासत्यादि के विवेक विना किसी नर, गुरु, वेद, स्त्री के अधीन रहने वाले नर गुरु आदि के पशु तुल्य हैं, वही पशु नहीं है कि जिसके विमल धर्मात्मादि के विमल विचार है ॥ २९ ॥ विचार रहित देखादेखी आचार करने वाले सब संसार में मिलते हैं, परन्तु विचार पूर्वक आचारादि करने वाले कोई नहीं मिलते, तहां एक विचारी यदि हो तो करोड़ों केवल आचारी त्यागे जाते हैं ॥ ३० ॥

इति विचार का अंग ॥

अथ असारग्राही का अंग ॥ ४८ ॥

कबीर कीट सुगन्ध तजि, नरक गहै दिन रात।
असार ग्राही मानवा, गहै असार हि बात ॥ १ ॥

बूटी बाटी पान करि, कहै दुःख जो जाय।
कहैं कबीर सुख ना रहै, यही असार सुभाय ॥ २ ॥

मच्छी मल को गहत है, निर्मल वस्तु हि छाड़ि।
कहैं कबीर असार मत, मांडि रहा मन माड़ि ॥ ३ ॥

आटा तजि भूसी गहै, चलनी देखु निहार।
कबीर सार हि छाडि के, गहै असार असार ॥ ४ ॥

रस छाडै छोई गहै, कोल्हू परगट देख।
गहै असार असार को, हिरदै नाहिं विवेक ॥ ५ ॥

१ मानुष सोई जानिये, जाके हृदय विचार। पा०

नरक (दुर्गन्ध) असार (मिथ्या अपवित्र) बात मानता है ॥ १ ॥ बूटी (भाँग) बाटि (पीस) कर पीते हैं, और कहते हैं, कि इससे दुःख जाता है। सुख स्वरूप आत्मा को नहीं गहते ॥ २ ॥ मन को माड़ि (मोहित) करके असार मत मांड़ि (व्याप्त हो) रहा है ॥ ३ ॥ निहार (दृष्टि देकर)। सार (आत्मा) असार (देहादि) ॥ ४ ॥ छोई (छिलका सीठी) ॥ ५ ॥

दूध त्यागि रक्त हि गहै, लगै पयोधर जोंक।
कहैं कबीर असार मत, लक्षण राखै फोक ॥ ६ ॥
निर्मल छाडै मल गहै, जन्म असारे खोय।
कहै कबीर सार तजी, आपन गये विगोय ॥ ७ ॥

पयोधर (स्तन) में भी लागा हुआ जोंक दूध को छोड़ कर रक्त (रुधिर) को गहता है, तैसे असार मतवाले फोक (फोफल-असार) लक्षण को रखते हैं, फोक के पोख कोक पाठान्तर है, अर्थ है कि असार मत का लक्षण को पोस कर रखते हैं। ६ ॥ निर्मल धर्म ब्रह्म को त्याग कर असार मतवाला मल को गहता है, असार में ही जन्म खोता है, और सार को त्याग कर अपने स्वरूप को भी विगोय (भूल) गया है ॥ ७ ॥

इति असारग्राही का अंग ॥

अथ सारग्राही का अंग ॥ ४९ ॥

साधू ऐसा चाहिये, जैसा सूप सुभाय।
सार सार को गहि रहै, थोथा देइ वहाय ॥ १ ॥
वानी वहुत प्रकार की, जाका नाहीं अन्त।
जो कछु तेरा काम की, सोई कर साधन्त ॥ २ ॥

पहिले फटकै छाज सो, थोथा सब उडि जाय।
उत्तम भांड़े पाइये, फटकन्ता ठहराय ॥ ३ ॥
हंसा पय को काढि ले, छीर नीर निरुवार।
ऐसे गहै जु सार को, सो जन उतरै पार ॥ ४ ॥
चूम्बक काढै सार को, जोरे मिला है रेत।
साधू काढै जीव को, उर अन्तर के हेत ॥ ५ ॥

सूप का सुभाव के समान साधु का स्वभाव होना चाहिये, कि जो सार २ बात को गह कर रहे, थोथा (मिथ्या) वचनादि को वहा (त्याग) दे। १ ॥ बहुत प्रकार की अनन्त बानी में जो कुछ तेरे काम की है, उसी के अनुसार साधन कर ॥ २ ॥ अर्थ शब्द दोनों को प्रथम तर्क विचार रूप छाज (सूप) से फटकै कि जिससे मिथ्या सब चित्त से हट जाय, फिर फटकने में ठहरे हुए को शुद्ध हृदय रूप उत्तम भांडे में पाइये (धरिये)। ३ ॥ क्षीर नीर का निरुआर विवेक करके हंस पय मात्र को काढ लेता है ॥ ४ ॥ धलि में मिला हुआ सार (लोहा) को चूम्बक काढ़ता है। तैसे हृदय के प्रेम से साधु जीवात्मा को संसार से काढता मुक्त करता है ॥ ५ ॥

पारा कञ्चन काढ़ि ले, जोरि मिला पुनि आन।
कहैं कबिर यह सार मत, परगट किया बखान ॥ ६ ॥
रक्त छाड़ि पय को गहै, ज्यों रे गौ का वच्छ।
अवगुण छाडै गुण गहै, सारगराही लच्छ ॥ ७ ॥

यदि कञ्चन अन्य धातु में भी मिला हो तो उसको पारा काढ लेता है, इसी प्रकार देहादि में मिला जीवात्मा को काढ़ना रूप यह सार मत प्रगट किया गया है ॥ ६ ॥ रक्त को छोड कर बच्चा दध को गहता है, तैसे सर्वत्र अवगुण को त्याग कर गुण का ग्रहण करना चाहिये, ऐसा सार ग्राही का लक्ष्य (ध्येय) रहता है ॥ ७ ॥

इति सारग्राही का अंग ॥

अथ सर्वज्ञता का अंग ॥ ५० ॥

साकट हमरे कोइ नहीं, सबे वैष्णवा झारि ।
संशय ते साकट भया, कहैं कबिर विचारि ॥ १ ॥

उहवाँ तो सब एक है, परदा रहिया वेष ।
भरम करम सब दूर कर, सब ही मांह अलेख ॥ २ ॥

घट बढ़ काहु न देखिये, ब्रह्म सकल भरपूर ।
जिन जाना तिहि निकट हैं, दूर कहै तिहि दूर ॥ ३ ॥

पार ब्रह्म सुभर भरा, दरिया वार न पार ।
खाली कहीं न देखिये, जेता सुइ संचार ॥ ४ ॥

और ज्ञान सब भूप हैं, तजै न कुल की रीत ।
ज्ञान कबिरा चाकवें, और सबै मंडलीक ॥ ५ ॥

हमारी दृष्टि से कोई सांकट (शाक्त) नहीं है, न सांकट हमारा कोई सम्बन्धी है, किन्तु सब के सब वैष्णव (एक विष्णु के सन्तान) हैं । परन्तु ज्ञान बिना संशय से सांकट हुआ है ॥ १ ॥ उस विष्णु स्वरूप में सब प्राणी एक हैं, परन्तु शरीर रूप वेष परदा पड़ा है, भ्रम कर्म (कार्य) देह सब को दूर करे, तो सब ही में अलेख (अदृश्य) ही है ॥ २ ॥ भ्रमादि के दूर होने पर छोटा बड़ा भी कुछ नहीं देखा जाता है । ब्रह्म ही सब में भरपूर है । सो ब्रह्म जानने वाले के अतिनिकट है, दूर कहने वाले के लिये दूर है ॥ ३ ॥ वह पर ब्रह्म सुभर भरा हुआ पार वार रहित दरिया (समुद्र) है । जितना देश में सुई का संचार हो सके उतना भी कोई स्थान उस ब्रह्म से खाली (रहित-शून्य) नहीं देखा जाता है ॥ ४ ॥ इस ब्रह्म ज्ञान से अन्य ज्ञान सब भूप (राजा) है । जिस ज्ञान के होने पर भी कुल की कुरीति को भी मनुष्य नहीं त्यागता है, और ज्ञानी पन के अभिमान करता है । जीवात्मा

का ज्ञान चक्रवर्ती तुल्य है। अन्य ज्ञान सब मंडलीक राजा तुल्य हैं (भूप है के भूमिया) पाठ है ।। ५ ।।

इति सर्वज्ञता का अंग ।।

निजकर्ता या पिवपिछान का अंग ॥ ५१ ॥

ओंअंकार निश्चय परे, वाको उत्तम जान।
सांचा शब्द कबीर का, पड़दा में पहिचान ॥ १ ॥

हरा होय सूखै सही, एक त्रिगुण विस्तार।
प्रथमहिं ताको सुमिरिये, जाका[1] यह विस्तार ॥ २ ॥

अलख पलक में खपि गयो, नीरंजन बीलाय।
अविगति भजो जो गति नहिं, भजो कौन सो लाय ॥ ३ ॥

अलख अलख सब कोइ कहै, अलख लखै नहिंकोय।
अलख लखा तवसबलखा, लखा अलख नहिहोय ॥ ४ ॥

ओंकार शब्द का निश्चय उपासना से परे उस ओंकार को उत्तम जानो, और गुरु का सांचा शब्द से उस ओंकारार्थ को परदा हृदय में तथा पांच कोश के भीतर साक्षी रूप से पहचानो ॥ १ ॥ त्रिगुण का विस्तार रूप एक दृश्य संसार कभी हरा होता है, और कभी सुखता भी सही (अवश्य) है। प्रथम उसी का स्मरण (विचार) करो कि जिस त्रिगुण का यह सब विस्तार है ।। २ ॥ फिर अविगति को भजो कि जो गति (क्रिया कार्य) रूप नहीं है उसी अलख (अविषय) स्वरूप निरञ्जन (माया रहित) के पलक में (मायाशक्ति में) त्रिगुण खप (समाप्त हो) गया है और विलाता है, तथा हिरण्यगर्भ (ब्रह्मा) रूप निरञ्जन का भी विलय होता है। परन्तु

---

१ सकल पसार। पा०॥

समझो कि अलख को कौन इन्द्रिय से लाय (पाय) कर भजौ (भजा जाय) ।। ३ ।। इसी से तो अलख-अलख सब कोई कहते हैं, परन्तु इन्द्रियों का अविषय होने से कोई लखता नहीं है, अविषय रूप से मन करके जो अलख को लखा सो सब को लखा, और इन्द्रियों से लखा हुआ अलख नहीं होता है ॥ ४ ॥

लखने हारा लख लिया, जाको है गुरु ज्ञान।
शब्द सुरति के अन्तरे, अलख पुरुष निर्वान ॥ ५ ॥

हम तो लखा तिहुँ लोक में, तूं क्यों कहै अलेख।
सार शब्द जाना नहीं, धोखे पहिरा भेख ॥ ६ ॥
कथत कथत जुग थाकिया, थाकी सबै खलक्क।
देखत नजरि न आइया, हारी कहा अलक्ख ॥ ७ ॥

कथत कथत जग थाकिया, भया जो गुनागून।
देखत नजरि न आइया, हारि कहा बेचून ॥ ८ ॥

जिसको गुरु से ज्ञान मिला है, सो लखने वाला अलख को भी लख लिया, वह अलख निर्वान पुरुष शब्द और सुरति के अन्तर में साक्षी स्वरूप से वर्तमान है ॥ ५ ॥ सच्चिदादिरूप हम (अलख) ही तीनों लोक में लखा गया है, तुम सर्वथा अलेख (अज्ञेय) क्यों कहते समझते हो, सार शब्द द्वारा जो अलख को नहीं जाना, सो धोखे में ही वेष धारण किया है ॥ ६ ॥ अलखादि कथते २ युग थका, और खलक (संसार) भी थका। फिर इन्द्रियों से देखना (जानना) चाहा, परन्तु देखने से दृष्टि का विषय नहीं हुआ, तब हार कर अलख कहा ॥ ७ ॥ संसारी कहते कहते थाका, फिर गुणागुण हुआ (देखने का विचार हुआ) देखने पर नजर नहीं आया तब हार कर बेचून (अप्राप्य) कहा, तथा गुण रूप ही वस्तु को अगुण (निर्गुण) समझा, सो भी नहीं दीख पड़ा तब हार कर बेचून कहा इत्यादि ॥ ८ ॥

बेचूने जग राचिया, साहब नूर निनार।
आखिर केरे वखत को, का को करैं दीदार ॥ ९ ॥
नीरञ्जन नर जपत हैं, तिनकी तो गति नाहिं।
घुघुर होयगा वापुरा, तिनको सूझै नाहिं ॥ १० ॥
अधर झलक्कै शून्य में, दीपक कीसी लोय।
कहैं कवीर कर्ता नहीं, याते कछू न होय ॥ ११ ॥
तीन लोक जप राम को, जानि मुक्ति को धाम।
राम वसिष्ठ जु गुरु कियो, काहू सुनायो नाम ॥ १२ ॥

बेचून ही जगत को राचा (समारा) है, उस साहव का नूर (प्रकाश) निनार (न्यारा) असंग है। वह संसार के आखिर (अन्त) की वस्तु है। फिर दूसरा किस का दिदार (दर्शन) किया जाय ॥ ९ ॥ न्यारा नूर को समझने विना मनुष्य निरञ्जन के नाम जपते हैं, विन की भी गति नहीं होती है, वह वावरा (अज्ञानी) घुघुर (जन्तु विशेष) होगा क्योंकि वे निरञ्जन को जपते हैं, और पास में ही निरञ्जन है सो उन्हें सूझता नहीं है ॥१०॥ दीपक के समान ज्योतिरूप लोय (प्रकाश) अधर के शून्य (ब्रह्माण्ड) में झलकता है, वह भी कर्ता नहीं है, न इससे कुछ होता है ॥ ११ ॥ तीनों लोक दशरथापत्य राम को जपते है और समझते हैं कि यही मुक्ति के धाम हैं, परन्तु समझना चाहिये कि रामजी भी वसिष्ठजी को गुरु किये तो उनको कौन नाम सुनाया गया ॥ १२ ॥

जग में चारो राम है, तीन राम व्यवहार।
एक नाम निज सार है, ता कर करो विचार ॥ १३ ॥
प्रथम हि शालिगराम है, दूजे परसूराम।
तीजे राजाराम है, चौथे आतमराम ॥ १४ ॥
साहेव दयावन्त है, जाके क्रोध न काम।
तीनो लोक परलय किया, श्री कृष्ण और राम ॥ १५ ॥

जाकी थापी मांड़ है, ताकी करहू सेव।
जो थापा है मांड का, सो नहिं हमरा देव। १६॥

संसार में चार राम हैं, तिन में तीन व्यवहारिक हैं, एक नित्य सार स्वरूप नाम (राम) है उस एक का विचार करो ॥ १३॥ प्रथम शालिग्रामादि मूर्ति रूप है, दूसरा परसूराम है, तीसरा राजाराम हैं, और चौथा आतमराम हैं ॥ १४॥ आतम राम साहब दयावान् हैं, जिनमें काम क्रोध नहीं है, श्रीकृष्ण और श्रीराम तो तीनों लोक को प्रलय किया है ॥ १५॥ जिसकी माया से थापी (स्थिर की हुई) यह मांड विस्तार है, उसकी सेवा (भक्ति) करो, और जो मांड का थापा है, संसार से सिद्ध हुआ है इसमें जन्मा है, सो हमारा देव नहीं है। क्योंकि 'स कारणं करणाधिपाधिपो नचास्य कश्चिज्जनिता नचाधिपः।' श्वेता ६। ६, वह कारण है, और करण के स्वामियों का स्वामी है उसका कोई पिता स्वामी नहीं है ॥ १६॥

निवल सवल जो जानिके, नाम धरा जगदीश।
कहैं कविर जनमे मरे, ताहि धरूं नहिं शीस ॥ १७॥

जनम मरन से रहित है, मेरा साहब सोय।
वलिहारी वहि पीव की, जिन सिरजा सव कोय ॥ १८॥

समुद्र पाटि लंका गये, सीता के भरतार।
ताहि अगस्त अचै गये, इन में को करतार ॥ १९॥

गिरिवर धार्यो कृष्णजी, द्रोनागिरि हनुमन्त।
शेषनाग धरनी धरी, इन में को भगवन्त ॥ २०॥

चार भुजा के भजन में, भूलि परे सव सन्त।
कवीर सुमिरे तासु को, जाके भुजा अनन्त ॥ २१॥

निर्बल सबल जान कर जो सबल का जगदीश नाम धरा गया है, वह जो जन्मता मरता है, उसको शिरोधार्य नहीं करूंगा ॥ १७ ॥ सब को सिरजा उसकी बलिहारी है, वही जगदीश है ॥ १८ ॥ पाटि के (बांध कर भरकर), उस समुद्र को अगस्तजी अचै (पी) गये, तो अगस्त और राम में कौन कर्ता है ॥ १९ ॥ गिरिवर (गोवर्धन पर्वत) ॥ २० ॥ चार भुजा वाले विष्णु भगवान के भजन में सब संत आसक्त हैं। सब प्राणी के भुजा जिसके भुजा हैं उस सर्वात्मा को कबीर (ज्ञानी) भजते हैं ॥ २१ ॥

संपुट माहि समाइया, सो साहब नहिं होय।
सकल मांड में रमि रहा, मेरा साहब सोय ॥ २२ ॥

है निराला मांडते, सकलमांड़ तिहि माहि।
कबीर सेवैं तासु को, दूजा सेवै नाहिं ॥ २३ ॥
नीव विहना देहरा, देह विहना देव।
तहाँ कबीरा वन्दगी, अलख पुरुष की सेव ॥ २४ ॥
जाके मुख माथा नहीं, नाही रूप अरूप।
पुष्प बास ते पातला, ऐसा तत्त्व अनूप ॥ २५ ॥

संपुट (गर्भादि के मध्य) में जो समाया सो कर्ता साहब नहीं हो सकता है सब विस्तार में जो साक्षी स्वरूप से सदा रम रहा है सोई मेरा साहब है ॥ २२ ॥ असंग होने से सब संसार से निराला (पृथक-अलिप्त) है सब मांड उसी में कल्पित है। ज्ञानी उसी को सेवते हैं, दूसरे को नहीं सेवते । २३ ॥ नीव (मूल) रहित प्रकृतिरूप जिसके देहरा (मन्दिर) है, और देह रहित सर्वात्मा देव है। हे जीव ! वहाँ वंदगी करो, और उसी अलख पुरुष को सेवो ॥ २४ ॥ जिसके मुख शिरादि कोई अवयव नहीं हैं, और रूप अरूप जाय नहीं बोली। बीजक रमैनी ७७ इत्यादि के अनुसार जो रूपवान या अरूप नहीं कहा जा सकता, पुष्प गन्ध से भी सूक्ष्म है, ऐसा वह अनूप अलख सर्वात्म देव रूप तत्त्व है ॥ २५ ॥

साहब मेरा एक है, दूजा कहा न जाय।
दूजा साहब जो कहूं, साहब खरा रिसाय ॥ २६ ॥

सुन्न मरे अजपा मरे, अनहद भी मरि जाय।
नाम सनेही ना मरै, रहै कबीर समाय ॥ २७ ॥

नाम नाम सब कोइ कहै, नाम न चीन्है कोय।
आतम रूपी नाद है, तत पहिचाने सोय ॥ २८ ॥

मेरा आत्म स्वरूप जन्मादि रहित साहब एक है, दूसरा साहब नहीं कहा जा सकता, यदि दूजा साहब कहूँ तो खरा (सत्य) सद्गुरु रूप साहब रुष्ट होते हैं ॥ २६ ॥ महाशून्य का उपासक मरन पाता है, तथा शून्य का भी लय होता है, अजपा जपने वाला अजपा सहित मरता है, अनहद भी लुप्त होता है। परंतु नाम (राम) के प्रेमी नहीं मरता है, नाम में समा कर मोक्ष पर्यन्त स्थिर रहता है ॥ २७ ॥ जिस नाम में समा कर रहता है, उसकी बात सब करते हैं, परंतु नाम को कोइ चीन्हता नहीं है, शरीर की स्थिति काल में आत्मस्वरूप जो नाद है, सो नाम है, और तत्त्वको समझने पर तत्त्व स्वरूप ही नाम है, अर्थात् आत्मा में नाम कल्पित है, और कल्पित वस्तु अधिष्ठान रूप ही ज्ञानावस्था में निश्चित होता है इत्यादि ॥ २८ ॥

एक राम दशरथ घर डोलै, एक राम घट घटमें बोलै।
एक राम का सकल पसारा, एक राम त्रिगुण से न्यारा ॥ २९ ॥

आकार रांम दशरथ घर डोलै, निराकार घट घट में बोलै।
बिन्दु राम का सकल पसारा, निरालम्ब सबही से न्यारा ॥ ३० ॥

आकार (शरीरी), निराकार (स्थूल से पर प्राणी), बिन्दु (चिदचिद् ग्रन्थि चिदाभास युक्त माया), निरालम्ब (निर्गुण) ॥ २९, ३० ॥

॥ इति निजकर्ता पिवपिछानका अंग ॥

———

अथ विश्वास का अंग ॥ ५२ ॥

भूखा भूखा क्या करै, कहा सुनावै लोग।
भाड़ा गढिया मुख दिया, सोई पूरण योग ॥ १ ॥
रचनहार को चीन्ह कर, खावे को क्या रोय।
दिल मन्दिर में पैंसि के तानि पिछौरा सोय ॥ २ ॥
राम नाम कर मोहड़ा, बोया बीज अघाय।
सर्व लोक सूखा पड़ै, तऊ न निष्फल जाय ॥ ३ ॥
चिन्तामणि चित्त में बसै, सोई चित्तमें आनि।
विनु चिन्ता चिन्ता करै, यही प्रभु की वानि ॥ ४ ॥

भूखा २ क्या करता है लोगों को क्या दुःख सुनाता है, जिसने देह रूप भांडा को गढा और मुख दिया वही पूर्ण योग (उपाय) करेगा, और पुरा करने लायक है ॥ १ ॥ रचयिता को समझ कर खाने को क्या रोता है, हृदय रूप मंदिर में पैठ कर, संतोष दुपट्टा ओढ कर सोओ ॥ २ ॥ राम नाम को मोहडा (याद मुख में) करो, और समझो कि खेत में अघाय (पूर्ण) बीज बोया है, पुष्ट बीज बोया है, इसीसे अघायेंगें तृप्त होंगें, फिर चाहे सब लोक में सूखा पडेगा, तो भी यह बीज निष्फल नहीं जायेगा ॥ ३ ॥ राम स्वरूप चितामणि चित्त में ही बसता है, उसका ध्यान तुम चित्त में आनो, उसे चित्त में समझो, फिर तेरी चिंता बिना ही वह स्वयं तेरे लिये चिंता करेगा, उस प्रभु का यही स्वभाव है ॥ ४ ॥

कबीर क्या मैं चिन्तवौं, मम चिन्ता क्या होय।
अपनी[1] चिन्ता हरि करै, चिन्ता मोहि न कोय ॥ ५ ॥

कर्म करीमा लिखि रहा, अब कछु लिखा न होय।
मासा घटै न तिल बढै, जा शिर पटकै कोय ॥ ६ ॥

---

१ मेरी।

कर्म करीमाँ लिखि रहा, नर शिर भाग अभाग।
जो कबहू चिन्ता करै, तौ[1] वह आगे आग॥ ७॥

चिन्ता न कर निश्चिन्त रह, देनिहार समरथ्थ।
पशू पखेरू जन्तु जिव, तिनकी गांठि न गथ्थ[2]॥ ८॥

समझना चाहिए कि मैं क्या चिन्ता करुं, और मेरी चिन्ता से होगा क्या, अपनी चिन्ता तो हरि करते ही हैं, फिर मुझे कोई चिन्ता नहीं है॥ ५॥ करीमाँ (कर्ता) प्रारब्ध कर्म लिख रहा (निश्चित कर चुका) है। अब कुछ लिखा नहीं जा सकता, और लिखे में न मासा भर घट सकता है न तिल भर बढ़ सकता है, चाहे सिर भी कोई पटके तो क्या॥ ६॥ कर्म के अनुसार नर के शिर में भाग्य अभाग्य भी लिखा चुका है, यदि कभी चिन्ता भी करेगा, तो वही आगे-आगे आयेगा॥ ७॥ इसलिये चिन्ता नहीं करके निश्चिन्त रहो, देने वाला तो सामर्थ्य वाला प्रभु है ही, पशु पक्षी और कीट पतंगादि जो जीव हैं, तिनकी गांठ में तो कोई गथ्थ (द्रव्यादि) नहीं है, तिनका भी पोषण प्रभु करता ही है॥ ८॥

हरिजन गांठि न बांधई, उदर समाता लेय।
आगे पीछे हरि खड़ा, जब मांगे तब देय॥ ९॥

अंडा पालै काछवी, बिनु थन राखै पोख।
यों कर्ता सब की करै, पालै तिनहुँ लोक॥ १०॥

पौ फाटी पगरा हुआ, जागै जीवा जून।
सब काहू को देत हैं, चोंच समाना चून॥ ११॥

राम नाम सो दिल मिला, यम सो परा दुराय।
सबहि भरोसा इष्ट का, बन्दा नरक न जाय॥ १२॥

१ तऊ न। २ द्रव्य। पा०॥

भक्तजन मांग कर गांठ नहीं बाँधते हैं, उदर पूर्ति भर के लेते हैं, उसके योग क्षेम कर्ता हरि सर्वत्र वर्तमान है, सोई जरूरत पड़ने पर देते हैं ।। ९ ॥ कच्छपी अपने अंडों को पालती है, वहाँ स्तन विना ही ध्यान रूप पोख (पोषण) रखती हैं। इसी प्रकार कर्ता सब की रक्षा करता है, और तीनों लोक को पालता है ॥ १० ॥ पौ फाटी (अन्धकार दूर हुआ) और पगरा (प्रकाश) हुआ, सब जीवजन्तु जागे, तब सब किसी को चोंच में समाने योग्य चून (खाना) कर्ता देता है ॥ ११ ॥ ऐसा समझ कर जिसका मन रामनाम से मिला उसको यम से दूरता पड़ गई, और उसको इष्ट का ही सब भरोसा रहने से वह बन्दा (भक्त) नरक में नहीं जाता है (मोहि भरोसा) पाठान्तर है ॥ १२ ॥

जाके मन परतीति है, सदा गुरू है संग।
कोटि काल झकझोलई, तऊ न हो मन भंग ॥ १३ ॥

खोज पकरि विश्वास गह, धनी मिलैगें आय।
अजया गज मस्तक चढी, निरभय कोंपल खाय ॥ १४ ॥

पशु तार्यों पक्षी तरा, तारा दादुर नेह।
तूं क्यों झुरवै मानवा, धरि मानुष की देह ॥ १५ ॥

सब ते भली मधूकरी, भांति भांति का नाज।
दावा काहू का नही, विनु दावा वड राज ॥ १६ ॥

जिसके मन में परतीति (विश्वास) है, उसके संग में ही सदा पथ प्रदर्शक गुरु हैं। चाहे करोड़ों दुष्काल उसे झकझोरता (कष्ट देता) है, तो भी उसका मन भंग (कुपथगामी) नहीं होता है ।। १३ ॥ खोज (मार्ग) पकड़ के विश्वास को गहो तो धनी (प्रभु) आकर मिलेंगे। अजा (बकरी) भी सिंह के प्रताप विश्वास से हाथी के मस्तक पर चढ कर कोपल (कोमल पत्र खा सकती है। गुरु प्रताप से मन्द बुद्धि भी काल चक्रसे आगे के फल

पाती है ॥ १४ ॥ पशु पक्षी आदि को भी दुःख से नेह (भक्ति) द्वारा तारा है, तुम मनुष्य का देह धरके भी क्यों झुरते (झखते-सुखते) हो ॥ १५ ॥ नाज (अन्न) जिसमें अनेक प्रकार के रहते है सो मधूकरी भिक्षा सबसे भली है जिसमें किसी का दावा (दखल) भी नहीं, और विना दावा के ही राज्य सुख रहता है । १६ ॥

मान महातम प्रेम रस, गरुआपन गुण नेह ।
ये सबही अहला गये, जबहि कहा कछु देह ॥ १७ ॥

मांगन मरन समान है, विरला बांचै कोहि ।
कहैं कबीर रघुनाथ सो, मति रे मँगाउ मोहि ॥ १८ ॥

पांडर[1] पिंजर मन भँवर, अर्थ अनूपम वास ।
रामनाम सींचा अमी, फल लागा विश्वास । १९ ।

पद गावै लौलीन ह्वे, कटै न संशय फांस ।
सबै पछोरा थोथरा, एक विना विश्वास ॥ २० ॥

मान (प्रतिष्ठा) महत्व, प्रेम, रस (आनन्द) गुरुत्व, गुण, और स्नेह ये सब तभी अहला (अलहदा-पृथक) गये कि जब कुछ दो ऐसा कहा ॥ १७ ॥ यद्यपि मागन मरना तुल्य है, तथापि इससे बिरला कोई बचता है, रघुनाथ (राम) से कहता हूँ कि मुझे मगावो नहीं ॥ १८ ॥ देह पांडर (चमेली विशेष) है, उस में मन भँवर है, उस देह मन में साक्षी स्वरूप अर्थ है, (सोई उत्तम सुगन्ध है) उस देह में रामनाम अमृत के सिंचने से विश्वास रूप फल लगता है ॥ १९ ॥ विश्वास बिना यदि लौलीन (प्रेम मग्न) होकर पद गाता है तो उससे संशय रूप यम का बन्धन नहीं कटता है, इससे एक विश्वास विना सबही पछोरी (अध्ययनविचार) थोथरा (व्यर्थ) हैं ॥ २० ॥

१ पाण्डर श्वेत का वाचक है, इससे कुन्दादि भी अर्थ हो सकता है ॥

जाके दिल में हरि वसै, सो जन कल्पै काहि।
एके लहरि समुद्र की, दुख दरिद्र बहि जाहिं ।। २१ ॥

गावन ही में रोवना, रोवन ही में राग।
एक वनहि में घर करै, एक घरहि बैराग ॥ २२ ॥

गाया तिन पाया नहीं, अनगाये ते दूर।
जिन गाया विश्वास गहि, ताको सदा हजूर ॥ २३ ॥

घट में जोति अनूप है, रिजक मौत जिव साथ।
कहा सार है मनुष का, कलम धनी के हाथ ॥ २४ ॥

जिस जन के मन में हरि वसते हैं, सो क्यों कल्पना करता है, हरिरूप आनन्द समुद्र की एक लहरि में सब दुःख दरिद्रता बह जाते हैं ॥ २१ ॥ कर्तव्य यह है कि हरि के गाने में ही रोना चाहिये, और रोने में राग (प्रेम) चाहिये. ऐसा करने से एक भक्त वन में ही घर का आनन्द करता है, और एक घर ही में वैराग करता है, अर्थात् 'मन हाथ भये जिन के तिन के, घर ही वन है वन ही घर है' ॥ २२ ॥ केवल गाने वाला भी हरि को नहीं पाया, नहीं गाने से तो हरि दूर वसते हैं, जिन्होंने विश्वास गह कर गाया तिन को हरि सदा हजूर हैं ॥ २३ ॥ वह सर्वात्मा हरि रूप ज्योति घट ही में है, उपमा रहित है, रिजक (जीविका) मृत्यु भी जीव के साथ हैं, मनुष्य का सार (वल) क्या है, क्योंकि धनी (हरि) के हाथ कलम (सब कर्तव्य) है ॥ २४ ॥

आगे पीछे हरि खड़ा, आप सहारे भार।
जन को दुःखी क्यों करै, समरथ सिरजनहार ॥ २५ ॥

कबीर सब जग निर्धना, धनवन्ता नहिं कोय।
धनवन्ता सो जानिये, रामनाम धन होय ॥ २६ ॥

सांई दीया सहज में, सोई रिजक हलाल।
हैवाँ सवै हराम है, तजि संशय जिय साल ॥ २७ ॥

विश्वासी ह्वै हरि भजै, लोहा कञ्चन होय।
राम भजन अनुराग से, हर्ष शोक नहिं दोय ॥ २८ ॥

भक्तों के आगे पीछे हरि खड़ा है, और आप सब भार संभारता सहता है, सामर्थ्यवाला कर्ता जन को क्यों दुखी करेगा ॥ २५ ॥ निर्धन दरिद्र ॥ २६ ॥ सहज (न्यायवृत्ति) में जो ईश्वर जीविका दिया, सोई हलाल (पाक-पवित्र) है और सब हैवाँ (अन्याय वृत्ति बल से लेना) हराम (अपवित्र) है। सो जीव के साल (पीडा शूल) रूप है, इसमें सशय नहीं है, संशय त्याग कर उसे जीव का साल समझो ॥ २७ ॥ विश्वासी होकर हरि को भजे तो लोहा तुल्य तामस जीव कञ्चन तुल्य सात्त्विक दास ज्ञानी होय, और राम भजन में अनुराग होने से हर्ष शोकादि द्वन्द्व नहीं व्यापते हैं ॥ २८ ॥

डोरी लागी भय गया, मन पाया विश्राम।
चित्त चहूंटा राम सो, सोई केवल धाम ॥ २९ ॥

सौदा कीजै राम सों, भरिये गून हलाय।
जो कवहूं टांडा लुटै, पूंजी विलय न जाय ॥ ३० ॥

जिस को हरि से डोरी (सम्बंध प्रीति) लगी, उसका भय गया, और मन विश्राम (शांति) पाया राम से जब चित्त चहुँटा (लगा) तव वह राम ही केवल (कैवल्य-मोक्ष) का धाम हो गया ॥ २९ ॥ इसलिये सद्गुरु सत्संगादि हाट में राम ऐसा प्रसिद्ध सौदा करो (लो) और मन बुद्धि रूप गून (गोण-वोरा) में हिला कर भरो, पूर्ण निश्चय विश्वास करो, कि जिससे टांडा (लदना बैल समूह) तुल्य इन्द्रियाँ विषय चोर से लुटे भी जायँ तो भी हृदयगत पूंजी विलय नहीं जाय ॥ ३० ॥

इति विश्वास का अंग ॥

अथ धीरज का अंग ॥ ५३ ॥

धीरे धीरे रे मना, धीरे सब कछु होय।
माली सींचै सौ घड़ा, रितु आये फल होय ॥ १ ॥

कबीर तूं काहे डरैं, सिर पर सिरजनहार।
हाथी चढि कर डोलिये, कूकर भुसै हजार ॥ २ ॥

कबीर बेरे बैठि के, भौंचक मना न जाय।
बूडन का भय छाड़ि दे, कर्ता करैं सहाय ॥ ३ ॥

हस्ती चढिये ज्ञान के, सहज दोलैचा डार।
स्वान रूप संसार है, भूसन दे झखमार ॥ ४ ॥

धीरा ह्वै धमका सहै, ज्यों अहरन शिर घाव।
मेघा परवत ह्वै रहो, इत उत कहूं न जाव ॥ ५ ॥

रे मन धीरे २ सब कार्य फल होता है, चाहें सैकड़ों घड़ा जल माली सींचता है, परन्तु ऋतु आने ही पर फल होता है ॥ १ ॥ ज्ञानादि रूप हाथी पर चढ़ कर विचरो ॥ २ ॥ विवेकादि बेरे (नौका) में बैठ कर भवचक्र (भ्रम) में नहीं जाओ ॥ ३ ॥ सहज धारणा रूप दोलैचा (कालीन) ॥ ४ ॥ धैर्य युक्त होकर संसार का धमक (चोट) को सहे, जैसे नहाय शिर पर घाव सहता है, और मेघ के बुंद को जैसे पर्वत सहता है, तैसा हो रहे, इधर उधर कहीं नहीं जाय ॥ ५ ॥

इति धीरज का अंग ॥

———

अथ विराग का अंग ॥ ५४ ॥

कपास विनठा कापडा, कबहि सुरंग न होय।
कबीर त्यागो ज्ञान करी, कनक कामिनी दोय ॥ १ ॥

कबीर चित चेतन करी, जागि न देखो मीत ।
कित कित केसल[1] पारिये, गलवल[2] सहर अनीत ॥ २ ॥

बाजन दे बाजन्तरी, कलियन्त्री ना छेंड़ ।
तुझे विरानी क्या परी, अपनी आप निबेर ॥ ३ ॥

जाता है सो जान दे, तेरी दसी न जाय ।
दरिया केरे नाव ज्यों, घना मिलेगें आय ॥ ४ ॥

विनठा (विनष्ठ) कपास का कपडा जैसे कभी सुन्दर नहीं होता, तैसे नष्ठा (माया) का कार्य सुरंग नहीं होता, ऐसा ज्ञान करके कनक कामिनी दोनों को त्यागो ॥ १ ॥ हे मित्र ! चित्त को चेतन (सावधान) करके जाग कर देखो न, कहां २ केसल पारें (पुकारे) संसार सहर गडवड और अनित्य है ।। २ ॥ वाजन्तरी (वाजावाला देहाभिमानी) को वाजने (बोलने) दो, कलि के यन्त्री (देही) को नही छेंड़ो, तुझे अन्य की वात से क्या मतलब है, अपनी निवेरा आप करो ॥ ३ ॥ जो जाता है, उसे जाने दो, तेरी दसी (धागा) भी नहीं जायगा, और नदी के नाव पर के समान फिर वहुत साथी आ कर मिलेगें ॥ ४ ॥

कबीर हमारा कोइ नहीं, हम काहू के नाहिं ।
पार पहूंची नाव ज्यों, मिलकर बिछुड़ा जाहिं ॥ ५ ॥

तन सराय मन पाहरू, मनसा उतरी आय ।
कोई काहू का नहीं, देखा टोये टाय ॥ ६ ॥

नीर पिलावत क्या फिरै, घर घर सायर वारि ।
तृषावन्त जो होयगा, पीवैगा झखमारि ॥ ७ ॥

---

१ मेल प्रेम कहां २ कराबे, अनित्य सहर में गलबल (विवाद) होता ही रहता है, इत्यादि भाव है ।

कबीर सब जग देखिया, मेलेउ कंध चढाय।
कोई[1] किसही का नहीं, देखा ठोक बजाय ॥ ८ ॥

समझो कि हमारा कोई नहीं है और हम भी किसी के नहीं हैं, जैसे नाव पर सब मिलते हैं, नाव के पार पहुँचने पर बिछुरते हैं, ऐसा ही संसार का मिलना बिछुडना है ॥ ५ ॥ देह सराय है, इस में मन पहरू रक्षक है, मनोरथ इसमें आ कर उतरा है, और है कोई किसी का नहीं, सो टोय टाय कर देख लिया है ॥ ६ ॥ विषयादि नीर पिलाते भी क्या फिरते हो, संसार समुद्र के वारि तो घर २ में स्वयं वासनादि रूप से वर्तमान है, जो तृषावाला होगा, सो स्वयं झखमार कर पीवेगा ॥ ७ ॥ सब संसार को देखा कांधे पर चढा कर मिला मिलाया, परन्तु कोई किसी का नहीं है, इस बात को ठोक बजा कर देख लिया है ॥ ८ ॥

मैं दुनियाँ का कछु नहीं, मेरे दुनी अकथ्थ।
साहब देखो सब खड़ा, दुनियाँ दोजख जथ्थ ॥ ९ ॥

झूठा सब संसार है, कोइ न अपना मीत।
जान जु पावै हरि भजं, चलै स भवजल जीत ॥१०॥

निसरा पै विसरा नहीं, तो निसराना काहि।
पहिले खाय उखालिया, सो फिर खाना नाहि ॥ ११॥

जो विभूति साधुन तजो, ताहि मूढ लपटाय।
ज्यों वमन करि डारिया, श्वान स्वाद करि खाय ॥१२॥

मैं संसारी का कोई सम्बन्धी नहीं हूँ, और संसार। भी मेरे अकथ्य (कहाने योग नहीं) हैं, क्योंकि संसारी नरक में जा रहा है, सो सब तमासा साहब खडा देख रहा है ॥ ९ ॥ सब संसार झूठा है, इससे अपना मित्र कोई नहीं है इस प्रकार जो समझ (ज्ञान) पावै, और हरि को भजे,

१ हरि बिनु अपना कोइ नहीं ॥ पा० ॥

सो संसार जल को जीत कर पार चल सकता है॥ १०॥ जो ऐसा समझने विना ही गृहादि से निसरा (निकला) परन्तु उसे विसरा (भूला) नहीं, तो निसारना (निकलना) किस काम का है, पहले खाये अन्न को उखाल (उबाल) करके फिर वह खाना उचित नहीं है॥ ११॥ जिस अनित्य पापार्जितादि विभूति का सन्तों ने तजी, उस में भी मूढ लिपटते हैं॥ १२॥

राम विना बेकाम है, छप्पन भोग विलास।
कहाँ इन्द्र को बैठनो, कहं बैकुण्ठ निवास॥ १३॥

मन फाटे चित ऊचटे, नैना नाहि समाय।
पलकों को टाटी दई, टेढा टेढा जाय॥ १४॥

बड़ा बडाई ना तजै, छोटा बहु इतराय।
ज्यों प्यादा फरजी भया, टेढा टेढा जाय॥ १५॥

मन मानिक जब ऊचटै, नेक नहीं ठहराय।
जो कञ्चन की भूमि ह्वै, हरियल धरै न पाँय॥ १६॥

धरती फाटै मेघजल, कपडा फाटै डोर।
तन फाटे की औषधी, मन फाटे नहीं ठौर॥ १७॥

राम भजनादि के विना छप्पन भोग आनन्दादि बेकाम हैं इन्द्र के बैठक (नन्दनादि) और बैकुण्ठ का निवास भी राम विना किस काम के हैं॥ १३॥ इन विभूतियों करके जिसका मन राम से फटा है चित्त चञ्चल हुआ है, उसके नैन (बुद्धि) में राम नहीं समाते हैं इससे राम के तरफ पलकों के टाटी देकर टेढ़ा २ मार्ग में जाता है॥ १४॥ बड़ा पुरुष अपनी बड़ाई आप नहीं करता, छोटा बहुत इतराता (अगराता) है, जैसे सतरंज में यदि प्यादा फरजी (वजीर) हुआ तो टेढा २ जाता है॥ १५॥ मन जब मानिक (रत्नरूप राम) से उचटता है (भागता) है, तो नेक (तनिक) भी नहीं ठहरता है। जैसे कञ्चन की भी यदि भूमि हो तो उसमें

हरियल पक्षी पांव नही धरता है ॥ १६ ॥ भूमि आदि के फटने पर मेघ के जलादि जूटने के साधन है, परन्तु राम से मनके फटने पर कोई ठौर नहीं है, कि जहां मन स्थिर शान्त सुखी हो सके ॥ १७ ॥

मेरे मन महँ पड़ि गई, ऐसी एक दरार।
फाटा फटिक पषाण ज्यों, मिलै न दूजी वार ॥ १८ ।

मन फाटा वायक वुरा, मिटी सगाई साक।
जैसे दूध तिवास को, उलट हुआ ज्यों आक ॥ १६ ॥

चन्दन भांगा गुन करै, जैसे चोली पान।
दोय जु भांगा ना मिलै, इक मोती इक मान ॥ २० ॥

मोती भांग्यो वेधता, मन भांग्यो कूवोल।
वहुत सयाना पचि गया, परि गइ गांठ जु गोल ॥ २१ ॥

मेरे मन में तो संसार से एक ऐसी दरार (फाट-भेद) पर गई कि जिससे स्फटिक पाषाण तुल्य फाटा है, दूसरी वार कभी मिल नहीं सकता है ॥ १८ ॥ संसार के वुरा वायक (वचनों) से मन फटा कि जिससे सगाई (संवन्ध) की साक (इच्छा-सौक) भी मिट गई, जैसे तिवास का (थूहर का) दूध फिर उलट कर आंक का दूध हुआ हो, तैसा संसार मेरे मन के लिये हुआ है ॥ १९ ॥ भांगा हुआ चन्दन और चोली पान जैसे भांगा हुआ गुण करता है, तैसे संसार से विरक्त मन गुण करता है, और मोती तथा मान जैसे भांगा हुआ नहीं जूटता है. तैसे वस्तुतः विरक्त मन संसारासक्त नहीं होता है ॥ २० ॥ वेधने में जैसे मोती भग्न हुआ, तैसे कुवोल से जो मन भग्न हुआ उसे जोड़ने के लिये कितने चतुर पच मुये परन्तु नहीं जुटा, गोल गांठ पर गया, विरक्त को आत्मनिश्चय हो गया ॥ २१ ॥

वैरागी विरक्त भला, गिरा परा फल खाय।
सरिता का पानी पिये, गृही द्वार नहीं जाय ॥ २२ ॥

गिरही द्वारे जाय के, उदर समाना लेइ।
पाछे लागे हरि फिरें, जब चाहे तब देइ।। २३ ।।

विराग के वेषधारी को विरक्त होना भला है, वह गिर कर पड़ा हुआ फल खाय और नदीका जल पिये, गृहस्थ के दरवाजे पर भी नही जाय। २२।। फल नहीं मिलने पर गृहस्थ द्वार पर जाय कर उदर पूर्ति भरके लिए अन्न लेवे, संग्रह नहीं करें, क्योंकि विश्वंभर हरि आगे पीछे फिरते हैं, मांगने पर देंगे ।। २३ ।।

इति विराग का अंग ।।

—:०:—

अथ समरथ का अंग ।। ५५ ।।

ना कछु किया न करि सका, न करन योग शरीर।
जो कछु किया सो हरि किया, भया कबीर कबीर ।। १ ।।

कीया कछु नहिं होत है, अन कीया ही होय।
कीया जो कछु होत तो, कर्ता औरे कोय ।। २ ।।

जिस नहिं कोई तिसहि तूं, जिस तूं तिस सब कोय।
दरगह तेरी साइयाँ, मेटि न सक्के कोय ।। ३ ।।

एक खडा ही ना लहै, एक खडा विललाय।
समरथ मेरा साइयाँ, सूता देय जगाय ।। ४ ।।

न प्रथम कुछ किया, न अभी कर सका, न आगे करने योग्य शरीर रहा, उसका भी जो कुछ कर्तव्य रहा सो सब हरि किया कराया, परन्तु नाम कर्म वीर में उसका हुआ ।। १ ।। किसीका किया कुछ नहीं होता है। मनुष्य के करने विना भी वृष्टि आदि शुभ अशुभ सब होते हैं, यदि किसीका किया कुछ होता तो दूसरा कोई कर्ता (ईश्वर) होता ।। २।। जिसका कोई

भी सहायक नहीं है, उसका तुम सहायक हो, और जिसका तुम हो, उसका फिर सब कोई है, हे स्वामिन् तेरा दरगह (स्थान न्याय) को कोई भी मेट नहीं सकता है ॥ ३ ॥ एक किसी इष्ट वस्तु के लिये खडा रह कर यत्न करते रहने पर भी नहीं पाता है, एक खडा होकर उस इष्ट के लिये बिल-लाता (व्याकुल होता रोता) है और किसी सोये को समर्थ ईश्वर जगा कर देता है ॥ ४ ॥

ना कछु किया न करि सका, ना कछु करने योग।
मैं मेरी जो थापि के, दूजी थापैं लोग ॥ ५ ॥

जो कछु किया सो तुम किया, मैं कछु कीया नाहिं।
कहूं कहीं जो मैं किया, तुम ही थे मुझ माहिं ॥ ६ ॥

मेरा मुझ में कछु नहीं, जो कछु है सो तोर।
तेरा तुझ को सौंपते, कहा जायगा मोर ॥ ७ ॥

अवगुन हारा गुन नहीं, मन का वडा कठोर।
ऐसा समरथ साइयां, ताहि लगावे ठौर ॥ ८ ॥

कोई न कुछ किया, न कर सका न करने योग्य रहा, तो भी मैं मेरी जो अज्ञान है, उसे थापि (निश्चय) करके, दूसरी वस्तु की थापना लोग करते हैं ॥ ५ ॥ जो कुछ व्यवहारादि किया सो तुम ही अन्तर्यामी रूप से किया। मैं ने तो खास कुछ नहीं किया, यदि कहीं मैं मिथ्या ही कहता हूँ कि मैं किया, तो वहाँ भी तुम ही मुझ में कहाने वाले थे ॥ ६ ॥ इस लिये मुझ में मेरा कुछ है नहीं, जो कुछ बल बुद्धि आदि है, सो भी तेरा ही है। फिर तेरी वस्तु तुझ को सौंपने में भी मेरा क्या जायगा ॥ ७ ॥ जो अवगुण वाला रहा, जिसमें कोई गुण नहीं, रहा, मन का भी वडा कठोर था, सो भी जब सब तुम को अरपा तब तुम ऐसा समर्थ स्वामी हो कि उसे ठौर (निजस्वरूप) में लगाते हो (साइयाँ के सतगुरो) पाठान्तर है ॥ ८ ॥

तुम सो समरथ साइयाँ, दृढ करि पकरो बांहि।
धूरहि ले पहुँचाइयां, जनि छाड़ो मग मांहि॥ ९॥

इत कूवाँ उत बावड़ी, इत उत थाह अथाह।
दहूं दिशा फनि फन कढ़ै, समरथ पार निवाह॥१०॥

समरथ धोरी कंध दे, रथ को दे पहुँचाय।
मारग माहिं न छाडिये, पिय विनु विरद लजाय॥११॥

हूं अपराधी जन्म का, नख शिख भरा विकार।
तुम दाता दुख भञ्जना, मेरो करो सँभार॥१२॥

तुम समर्थ साईं हो, दृढ करके बांह पकड़ो, और धूर (ध्रुव-नित्य अन्त) स्थान तक लेकर पहुँचाओ, मार्ग में नहीं छोड़ो ॥ ९ ॥ इधर संसार में गर्भादि रूप अन्ध कूप है। उधर नरकादि रूप वावली है इससे इत उत थाहने में अथाह (अपार) दीखता है, कालादि रूप फनी (सर्प) दशों दिशा में फन काढा (जीभ निकाला) है। इस अवस्था में हे समर्थ! आपही निवाहने (बचाने) वाला हो ॥ १० ॥ हे धोरी (निकटवर्ती या धुरंधर) कंध (सहायता) देकर देहादि रूप रथ को ठिकाने पहुँचा दो, मारग में नहीं छोडो, क्योंकि आप प्रभु विना भक्तादि की विरुद (यश आदि) लज्जित होती है ॥ ११ ॥ यद्यपि मैं (देहाभिमानी जीव) जन्म का अपराधी हूँ, क्योंकि अभिमान से नख शिख तक विकार भरा है, तथापि तुम दाता दुःखभंजन कर्ता हो इसलिये मेरा सँभार करो ॥ १२ ॥

बुरा जु देखन मैं चला, बुरा न मिलिया कोय।
जो दिल खोजा आपनो, मो सम बुरा न कोय॥१३॥

कबीर सब ते हम बुरे, हम ते भल सब कोय।
जिन ऐसा कर बूझिया, मीत हमारा सोय॥१४॥

धरता सब कागद करूं, लेखनि सब बनराय।
सात समुद्र की मसि करूं, हरि गुण लिखा न जाय ॥१५॥

[1]औरन को का वरनिये, मो पै वरनि न जाय।
अवरण वरण वाहीरा, करि करि थका उपाय ॥१६॥

मुझ में इतनि शक्ति कहँ, गावौं गला पसार।
वन्दा को इतनी घनी, पड़ा रहे दरवार ॥१७॥

देहाभिमान के रहते यदि मैं बुरा देखने चला तो कोई बुरा नहीं मिला, और यदि अपने मन में खोजा तो पता लगा कि मेरे तुल्य बुरा कोई नहीं है ॥ १३ ॥ हम सबसे बुरे हैं, और हम से सब कोई भला है। जिन लोगों ने ऐसा समझा है, सो हमारा मीत (मित्र) है ॥ १४ ॥ ऐसी मति भक्ति आदि देनेवाला हरि के गुण अगम अपार है, किसी प्रकार भी सब नहीं लिखा जा सकता ॥ १५ ॥ अन्य की बात क्या कहूँ, मुझ से हरि गुण का वर्णन नहीं हो सकता, क्योंकि उसे अवरण या वरण या वर्णावर्ण से वाहर किसी एक रूप नहीं कह सकते, इससे उसे कहने के लिये उपाय कर २ के थक गये। परन्तु कह नहीं सके ॥ १६ ॥ मुझ में इतनी शक्ति भी कहां कि जिससे गला पसार कर गुण गावें, वन्दा (भक्त) के लिये इतनी ही बात घनी (बहुत) है कि दरवार (शरण) में पडा रहे ॥ १७ ॥

कवीर मैं तो तब डरो, जो मुझ ही में होय।
भीच बुढापा आपदा, सब काहू को जोय ॥१८॥

सात द्वीप नव खंड़ में, तीन लोक ब्रह्मण्ड।
कहैं कविर सब को लगे, देह धरे का दण्ड ॥१९॥

देह धरे का दंड है, सब काहू को होय।
ज्ञानि भुक्ते ज्ञान करि, मूरख भुक्ते रोय ॥२०॥

---

१ अवरन ॥ पा० ॥

धूत दुखी अवधूत दुखि, दुखी रंक विपरीत।
कहैं कबिर ये सब दुखी, सुखी सन्त मन जीत ॥ २१॥

शक्ति के अभाव दुःखादि से मैं तब डरुं कि यदि ये मुझ में ही होयँ, मीच (मृत्यु) बूढापन आपत्ति सब किसी को देखा गया है ॥ १८ ॥ सात द्विपादि में सर्वत्र सर्व को देह धरने का दंड (दुःखादि) लगता है ॥ १९ ॥ देह धरने का जो दण्ड है सो यद्यपि सबको होता है तथापि ज्ञानी ज्ञान करके धैर्य से भोगता है और मूर्ख रो कर भोगता है ॥ २० ॥ धूत (भर्त्सित ज्ञाति आदि से त्यक्त) अवधूत (भर्त्सना रहित पूजित) रंक (दरिद्र) उससे विपरीत धनी राजा आदि ये सब दुःखी हैं, जो मन को जीते हैं, ऐसे देहाभिमानादि रहित सन्त सुखी हैं ॥ २१ ॥

झल बायें झल दाहिने, झल ही में व्यवहार।
आगे पीछे झल बरं, राखं सिरजनहार ॥२२॥

साईं मेरा बानियां, सहज करै व्यापार।
बिनु डांडो बिनु पालरे, तौलै सब संसार ॥२३॥

मोवासा सोई करं, दुर्जन काढै दूर।
राज पियारे राम के, सहर बसें भरपूर। २४॥

बारी हरि के नाम पर, किया राई लौन।
जिसे चलावें पन्थ तूं, तिसे भुलावें कौन ॥२५॥

सब इसलिये दुःखी हैं कि बायें दाहिने (अशुभ शुभ) सब पदार्थ में झल (अग्नि का लपट ताप) है, और झल में ही सब व्यवहार है आगे पीछे सर्वत्र अग्नि जलती है, तो भी कर्मादि के अनुसार कर्ता रक्षा करता है ॥ २२ ॥ मेरा सांई मानो बानियाँ है, सो सहज (स्वभाव मूत माया) से व्यापार करता है, और दंडी पलरा (तराजू) बिना सब संसार को तौलता हैं ॥ २३ ॥ सोई मोवासा (ममता रक्षा) करता है, और दुर्जन

को दूर काढता (निकालता) है। संसार राज्य जिसके प्यारा है, उस राम के सहर भरपूर वसता है । २४ ॥ उस हरि के नाम पर वारी (आत्मार्पण) है कि जो राई और लौन को भी संसार के उपयोगी जान कर किया है, सो हरि जिसे सत्पन्थ में चलावेगा उसे भुला भी कौन सकता है ॥ २५ ॥

करनी वपुरी क्या करैं, राम न करै सहाय।
जिस जिस डाली पग धरैं, सोई नय नय जाय ॥२६॥

साहव से सब होत है, वन्दे ते कछु नाहिं।
राई से परवत करै, परवत राई माहिं ॥२७॥

वहन वहन्ता थल करै, थल कर वहन वहोय।
साहव हाथ वड़ाइया, जस भावै तस होय ॥२८॥

धन धन साईं तूं वड़ा, तेरी अनुपम रीत।
सकल भुवन पति साइयाँ, ह्वै कर रहै अतीत ॥२९॥

जड़ करनी (क्रिया) वेचारी क्या कर सकती है, यदि राम सहायता नहीं करे, करनी वाला वो जिस २ डाली पर पैर देता है, सो २ राम कृपा विना नय २ जाता है॥ २६ ॥ इसलिये साहव से ही सव व्यवहारादि होता है, वन्दे (दास) से कुछ नहीं होता। वह साहव ही राई तुल्य बीज कारण से पर्वत तुल्य कार्य करता है, फिर पर्वत तुल्य को राई तुल्य के अन्दर लीन करता है ॥ २७ ॥ वहनशील वहन्ता नदी को वह थल करता है, और थल को वहन (धारा) वहाता है वही सांई सव भुवनों का पति है, जैसी उसकी भावना होती है, तैसा ही होकर रहता है ॥ २८ ॥ हे साईं ! तूं धन्य हो, तेरी रीति (चाल) उपमा रहित है कि जिससे सव भुवनों के पतियों के भी स्वामी होकर अतीत (विरक्त-असंग) रहते हो ॥ २९ ॥

साईं मैं तुझ वाहरा, कौडी हूं न विकाउं।
जो शिर ऊपर तूं धनी, लाखों मोल कराउं ॥३०॥

हे स्वामी ! मैं (जीव) तुझ बाहरा (तेरे विना) कौड़ी में भी नहीं विकता हूँ (किसी प्रकार भी मेरा कोई गाहक नहीं है)। यदि धनी (समर्थ) तुम शिर उपर रहते हो, तेरी भक्ति शक्ति यदि रहती है, तो लाखों मोल कराता हूँ (सब का प्रिय अमूल्य होता हूँ)॥ ३० ॥

साहब तुम जनि वीसरो, लाख लोग मिलि जाहिं।
हमसे तुमको बहुत हैं, तुम सम हमको नाहिं॥ ३१ ॥

जो जाकी शरणै गहैं, ताको ताकी लाज।
उलटि मीन जल चढ़त है, बह्यो जात गजराज॥ ३२ ॥

मीन जल का शरण लिया है, इससे जल भी उसे सहायता करता है कि जिससे जल प्रवाह में उलटा चढता है॥ ३१, ३२ ॥

इति समरथ का अंग॥

अथ कुशब्द का अंग॥ ५६ ॥

चोट सुहेली सेल की, पड़ता लेइ उसांस।
चोट सहारै शब्द की, तासु गुरु मैं दास॥ १ ॥

खांद खुन्द धरती सहै, काट कूट बनराय।
कुशब्द तो साधु सहै, और हि सहा न जाय॥ २ ॥

कबीर शीतलता भई, उपजा ब्रह्म ज्ञान।
जिहि वैसन्दर जग जरै, सो पुनि उदक समान॥ ३ ॥

शीतलता तब जानिये, समता रहै समाय।
विष छाड़ै निर्विष रहै, सब दिन दूखा जाय॥ ४ ॥

सेल (भाला) की चोट सुहेली (सहने योग्य) है, उसे लगने पर पड़ता (गिरता) है, परन्तु उच्छ्वास लेता है, उस स्वांस से भी रहित

शब्द की चोट जो सहता है, उसका गुरु और दास दोनों मैं हूँ ॥ १ ॥ कोड़ना खूंदना जैसे भूमि सहती है, काटना कूटना वनराज सहता है, तैसे कुशब्द को साधु सहता है, अन्य से नहीं सहा जाता ॥ २ ॥ क्योंकि ब्रह्म ज्ञान के उपजने से साधु में शीतलता हो जाती है, इससे जिस कुशब्दादि वैसन्दर (अग्नि) से जग जलता है। सो फिर ज्ञानी के लिये उदक तुल्य होता है ॥ ३ ॥ शीतलता भी तभी समझना कि जब समता में समाया रहे, और क्रोध विषयादि विष को त्याग कर निर्विष रहे, चाहे सब दिन किसी से दुखाया जाता हो, तथा ऐसे रहने से सदा के लिए दुःख सब चले जाते हैं ।। ४ ॥

इति कुशब्द का अंग ॥

अथ सुशब्द का अंग ॥ ५७ ॥

कबीर शब्द शरीर में, बिनु गुन बाजै तांत।
बाहर भीतर रमि रहा, तावे छूटी भ्रान्त ॥ १ ॥
संत संतोषी सर्वदा, शब्द हि भेद विचार।
सतगुरु के परताप ते, सहज सन्त मत धार ॥ २ ॥
सरसा सर जन बंधिया, सर बिनु गम कछु नाहिं।
लागी चोट जु शब्द की, करक करेजे माहिं ॥ ३ ॥
सारा बहुत पुकारिया, पीव पुकारै और।
लागी चोट जु शब्द की, रहा कबीरा ठौर ॥ ४ ॥

शब्द शरीर के अन्दर मानो बिना गुण (तार) के ही तांत (सितार) बजता है सो शब्द चिदचिद् रूप से बाहर भीतर रम रहा है, उसी सुशब्द द्वारा ज्ञान से भ्रम भी छूटता है ॥ १ ॥ सन्तोषी सन्त सदा शब्द से ही

भेद (विवेक) और विचार करते हैं सद्गुरु के प्रताप से सहज धारणा रूप सन्त मत का धारण करते हैं (सहज शील मतधार) पाठान्तर है ॥ २ ॥ सरसा (सानन्द-सद्गुरु) का सार (वचन) जिस जन को बेधा, उसको सर बिना अन्य का कुछ गम होश नहीं रहा, सद्गुरु के वचनार्थ में ध्याना-वस्थ हो गया, क्यों कि जो शब्द की चोट लगी सो कलेजे (हृदय) में करकती (सावधान करती रहती) है ॥ ३ ॥ सद्गुरु ने सार[1] तत्त्व को बहुत प्रकार से पुकार करके कहा है, जिस को और लोग पीव कह कर पुकारते हैं, जिस को सार शब्द की चोट लगी सो जीव ठिकाने में स्थिर रहा । (पीर पुकारै और) पाठान्तर है ॥ ४ ॥

सायर माही सर गया, मच्छी काया सोय ।
सो मच्छी तरुवर चढ़ी, बूझै बिरला कोय ॥ ५ ॥

जिहि सर मारी काल, सो सर मेरे मन वसा ।
तिहि सर अजहू मार, बिनु सर पावो नहि रसा ॥ ६ ॥

पंखि उडानो गगन को, ऊडि चढ्यो असमान ।
जिहि सर मंडल भेदिवो, सो सर लागा कान ॥ ७ ॥

लागी लागी क्या करै, लागी नहीं लगार ।
लागी तब ही जानिये, निकसी जाय दुसार ॥ ८ ॥

सद्गुरु के शब्द लगने पर जीवरूप मच्छी का वह सब काया संसार समुद्र में सर गया (लीन हुआ) और वह मच्छी अकाय होकर ब्रह्मात्मावृक्ष पर चढ़ी सो विरला कोई समझता है ॥ ५ ॥ समझने वाला सद्गुरु से प्रार्थना करता है कि जिस सर से काल (कलह) किसी जिज्ञासु को आपने मारा, तथा काल (मृत्यु भय) को नष्ट किया, वही सर मेरे मन में बसा है, अब भी मारो, उस सर के बिना रस (प्रेम आनन्द) नहीं पा रहा हूं ॥ ६ ॥

१ राम कहे निज सारू । (बीजक ग्रन्थ)

जो पक्षी जीव गुरु से शब्द सर पाकर चिदाकाश ब्रह्माण्ड के तरफ उड़ा, सो आसमान में चढ़ गया, क्योंकि जिस सर से पञ्चकोशादि रूप मण्डल (परिधि-घेरा समूह) का भेदन करना है, सो सर उसे कान लग गया ॥ ७ ॥ शब्द का लगना भी तभी है कि जब लगार (निरन्तर प्रेम) लग जाय, जब तक लगार नहीं लगी तब तक लागि क्या, जब दूसरा असार (वस्तु) हृदय से निकल जावे, दो में सार (सत्य) बुद्धि नहीं रहे तब लागी समझो, कि जैसे बाण दूसरे तरफ से पार हो जाता है ॥ ८ ॥

बिनु सर और कमान बिनु, मारा है सो शीस ।
बाहर घाव न दीसई, बेधा नख शिख शीस ॥ ९ ॥
शब्द हि मारा मरि गया, शब्द हि छाड़ा राज ।
जिन यह शब्द सम्हारिया, सरिया तिनका काज ॥१०॥
बिजक बतावै वित्त को, जो धन गुप्ते होय ।
शब्द बतावै जीव को, बूझै बिरला कोय ॥११॥
शब्द कहै सो कीजिये, बहुतक गुरू लबार ।
अपने अपने लोभ को, ठौर ठौर बटवार ॥१२॥

सो सद्गुरु सर धनुष के बिना शब्द से शिष्य को मारा है, इससे बाहर घाव (चिन्ह) नहीं दीखता है । परन्तु शिष्य के नख शिख तक बेधा है ॥ ९ ॥ शब्द के ही मार से शिष्य मर गया (जीवन्मृतक-अभिमान रहित हुआ) शब्द से ही राज्यादि छोड़ दिया, ऐसे शब्दों को जिन्होंने सम्हारा (ध्यान में लाया विचारा) उनका प्रयोजन सिद्ध हुआ ॥ १० ॥ बीजक (बहि) जैसे जो गुप्त वित्त (धन) रहता है, उसको बताता है । तैसे सद्गुरु का शब्द जीव के स्वरूप ब्रह्मात्मा को बताता है । परन्तु बिरला कोई अधिकारी पुरुष बूझता (समझता) है ॥ ११ ॥ उस स्वरूप को समझने के लिये जो साधन सद्गुरु का शब्द कहता है सो विचार सत्संग ध्यानादि

साधन करो, बहुत गुरु तो लवार (झूठे) भी हैं, अपने २ लोभ वश जगह जगह में बटवारी ठगी भी करते हैं ॥ १२ ॥

शब्द न करै मुलाहिजा, शब्द फिर चहुं धार।
आपा पर जब चीन्हिया, तब गुरु शिष व्यवहार ॥१३॥

शब्द बाजा निःगम्य का, महक बजावैं तूर।
सांचा शब्द जु एक है, जग उतपति का मूर ॥१४॥

शब्द हमार तु शब्द का, सुनि मति जाहु सरक्क।
जो चाहे निज तत्त्व को, शब्द हि लेहु परख्ख ॥१५॥

शब्द विना श्रुति आंधरी, ना जानो कहँ जाय।
द्वार न पावै शब्द का, फिर फिरि भटका खाय ॥१६॥

औरे दारू सब करी, पै स्वभाव की नाहिं।
सो दारू सतगुरु करी, रहै शब्द के मांहि ॥१७॥

शब्द किसी की मुलाहिजा (लेहाज-मुखदेखी) नहीं करता है, परन्तु अर्थ धर्म काम मोक्ष चारों धार में शब्द फिरता है, तहाँ जब अपने स्वरूप परतत्त्व को समझा, तब सच्चा गुरु शिष्य का व्यवहार है ॥ १३ ॥ अगम्य अविषय का बाजा रूप शब्द है, महक (सुगन्ध-सुयश) रूप तूर को बजाता है, सांचा शब्द एक ही है, अन्य तीन शब्द जगत में उत्पत्ति के मूल है ॥ १४ ॥ सांच शब्द सद्गुरु का है, जिज्ञासु उस का अधिकारी है, उसे सुन कर सरको नहीं, किन्तु जिस निज तत्त्व को चाहते हो, उसे शब्द से ही परखो ॥ १५ ॥ शब्द के बिना श्रुति (मनोवृत्ति बुद्धि) आंधरीं रहती है, पता नहीं कि कहाँ जायगी, शब्द के द्वार नहीं पाने से बार-बार धोखा खाती है ॥ १६ ॥ अन्य रोग की दारु (औषधि) सब किया है, परन्तु स्वभाव (प्रकृति) की नही की गई है, वह सद्गुरु ने की है, जो कि शब्द में रहती है ॥ १७ ॥

एक शब्द गुरुदेव का, जाका अनन्त विचार।
थाके पंडित मुनि जना, वेद न पावैं पार ॥१८॥

मैं कलि का कुतवाल हूं, लेहू शब्द हमार।
जो या शब्दहि मानि है, सो उतरै भवपार ॥१९॥

रैनि समानी भानु में, भानु अकाशे माहिं।
अकाश समाना शब्द में, शब्द परे कछु नाहिं ॥२०॥

खोजी हुआ शब्द का, धन्य सन्त हैं सोय।
कहैं कबिर गहि शब्द को, कबहु न जाय विगोय ॥२१॥

सीखै सुनै विचारि ले, ताहि शब्द सुख देय।
अनसमझा शब्दे कहै, कछू न लाहा लेय ॥२२॥

गुरुदेव का एक ओंकार शब्द है जिसका अनन्त वेद वचनादि रूप विचार है, तथा परा शब्द के अनन्त विचार है, उस विचार में पंडित मुनि जन थके, और वेद भी पार नहीं पाता है ॥ १८ ॥ मैं गुरु कलि (अज्ञान-रात्रि) का कोतवाल हूँ, इसीलिये मेरा शब्द सुनो, जो इस शब्द को मानेंगें सो मुक्त होंगे ॥ १९ ॥ क्योंकि गुरु शब्द के मानने पर मोहाज्ञानरूप रात्रि भानु (ज्ञान प्रकाश) में समाती है, और भानु चिदाकाश में स्थिर है, सो आकाश शब्द में समाया है (शब्द से गम्य है) तथा भूताकाश शब्द साक्षी में कल्पित है। इससे शब्द साक्षी से पर कुछ नहीं है ॥ २० ॥ सार शब्द को गहने पर भूल भ्रम स्वरूप च्युति से रहित हो जाता है ॥ २१ ॥ किसी से शिक्षा ले, श्रवण मनन करे, उसको शब्द सुख देता है, समझने बिना जो शब्द कहता है, सो कुछ लाहा (लाभ) नहीं लेता है ॥ २२ ॥

टीला टीली ढाहि के, फोरि करै मैदान।
समझ सफा करता चलै, सोइ शब्द निर्वान ॥२३॥

शब्दों का गुरु शब्द है, काया का गुरु काय।
भक्ति करो निष्कर्म ह्वै, सतगुरु यों समुझाय ॥२४॥

किन्तु जब लोक देहादि के अभिमानादि रूप टीला टीली (विषमता) को नष्ट करके और कामादि ढेले को फोर कर सम मैदान करे, विवेकादि रूप समझ से सदा साफ निर्मल करता चले तब वही शब्द निर्वाण स्वरूप होता है ॥ २३ ॥ शिष्य में होने वाले शब्दों का गुरु (पिता) गुरु का शब्द है, गुरु के शब्द से शिष्य में शब्द की स्फुरणा शक्ति होती है, और शिष्य की काया के गुरु (उपदेशक) गुरु की काया है, गुरु का दैहिक व्यवहार देखकर शिष्य व्यवहार करता है। आत्मा वस्तुतः गुरु शिष्य भाव से रहित असंग है। इसलिये निष्काम होकर भक्ति करो कि जिससे आत्मानुभव होवे, सतगुरु ने इस प्रकार समझाया है। (शब्द गुरु का शब्द है) पाठान्तर है ॥ २४ ॥

हरिजन सोई जानिये, जिह्वा कहै न मार।
आठ पहर चितवत रहै, गुरु का ज्ञान विचार ॥ २५ ॥
जाप मरै अजपा मरै, अनहद हूं मरि जाय।
सुरत समानी शब्द में, ताको काल न खाय ॥ २६ ॥

उसी को हरिजन जानना चाहिये कि जो जिह्वा से भी मार ऐसा शब्द नहीं कहता है, और आठों पहर गुरु का ज्ञानप्रद शब्दादि को विचारता हुआ चितवत (ध्यान करता) रहता है ॥ २५ ॥ सकाम जपका फल नष्ट होता है, अजपा अभ्यास का फल विनश्वर है. अनहद नादाभ्यास का फल भी नष्ट होता है, परन्तु जिसकी सुरति (ध्यान) सार शब्द में लग कर आत्मनिष्ठ होती है उसी आत्मज्ञानी को जन्म मरणादि का भय नहीं रहता है वह जीवनमुक्त विदेहमुक्त होता है इसलिये गुरु के सार शब्द से आत्म परिचय करना चाहिये गुरु का सार शब्द ही श्रेष्ठ सुशब्द है ॥२६॥

इति सुशब्द का अंग ॥

अथ दुविधा का अंग ॥ ५८ ॥

दुविधा जाके दिल वसैं, दयावन्त जिव नाहिं।
कबीर त्याग् तासु को, भूलि देउ जनि बाहिं ॥ १ ॥

रे मन कछु नहिं कर सका, सरा न एको काम।
दुविधा में दोऊ गये, माया मिली न राम ॥ २ ॥

हृदया माहीं आरसी, मुख देखा नहिं जाय।
मुख तो तबही देखई, दिल की दुविधा जाय ॥ ३ ॥

चीटी चावल ले चली, बीच मिली इक दालि।
कहैं कबिर द्वौ ना मिले, एक ले दूजी डालि ॥ ४ ॥

जिसके मन में दुविधा (संशय) हो, और दयालु भी नहीं हो, उसको त्यागो, भूल कर भी उसे बाहु (अवलम्ब-सहायता) नहीं दो, न लो ॥ १ ॥ दुविधा में फंसा हुआ मनवाला कुछ भी नहीं कर सका, न उसे माया मिली न राम मिले, न एक भी प्रयोजन सिद्ध हुआ ॥ २ ॥ बुद्धि रूप आरसी (दर्पण) हृदय में है, परन्तु तौ भी मुख (आत्मा) नहीं देखा जाता है, वह तब देखा जा सकता है कि जब मन की दुविधा चली जाय ॥ ३ ॥ चीटी (बुद्धि) चावल (विषय) लेकर संसार में चली है, बीच में गुरु सत्संगादि में कहीं एकात्मा दाल मिल भी गई, तो दोनों सदा के लिये नहीं मिल सकते, इसलिये दूसरी वस्तु को त्याग करके ही एकात्मा को लेना चाहिये ॥ ४ ॥

कै तुम छोड़ै मुकदमी, कै तुम साहब लोर।
दो दो घोड़ा मति चढ़ो, तेरा घर है चोर ॥ ५ ॥

आगा पीछा दिल करै, सहजा मिलै न आय।
सो वासी यमलोक का, बांधा यमपुर जाय ॥ ६ ॥

कै (चाहे) तो तुम मुकदमी (अदालती-संसारी) की लोड़ै (इच्छा कर पास में जाओ) कै (अथवा) सर्वात्मा निष्प्रपञ्च साहब की लोर (इच्छा) कर, शरण में जाओ, एक काल में दो २ घोड़े पर नहीं चढो (संसार और साहब को नहीं चाहो) ऐसी इच्छा कामादि रूप चोर तेरा घर में हैं, उनसे बचो ॥ ५ ॥ जिसका दिल आगा पीछा करता है, संशययुक्त रहता है, और सहजा (समाधि) अवस्था में आकर आत्मा राम से नहीं मिलता है, सो यमलोक का वासी होगा, और बांधा हुआ यमपुर में जायगा ॥ ६ ॥

इति दुविधा का अंग ॥

अथ काल का अंग ॥ ५९ ॥

झूठा सुख को सुख कही, मानत हैं मन मोद।
जगत चमेना काल का, कुछ मुख में कुछ गोद ॥ १ ॥

आज काल पल छिनक में, मारग मेला हित्त।
काल चिचाना नर चिड़ा, औजड़ औ अवचित्त ॥ २ ॥

काल चिचाना है खड़ा, जाग पियारे मित्त।
नाम सनेही वाहरा, क्यों सोवै निःचिन्त ॥ ३ ॥

सब जग सोया निन्द भरि, मोहि न आवैं निन्द।
काल खड़ा है वारनैं, तोरन आया विन्द ॥ ४ ॥

चमेना (चर्वण) (कुछ मूठी कुछ गोद) पाठान्तर है। गोद (अंक क्रोड़) में ॥ १ ॥ आज या कल्ह या एक क्षण या पल में काल ग्रास होगा, या मार्ग में या मेला में या हित्त के पास में या औजड़ (कुठाम) और अवचित्त (अचानक) में नर रूप चिड़िया के ऊपर कालरूप चिचाना (बाज) झपटेगा ॥ २ ॥ वह काल बाज खड़ा है। हे प्रिय मित्र ! जागो,

नाम प्रेमी पन से रहित होकर क्यों निश्चिन्त सोते हो ॥ ३ ॥ सब संसारी मोहनिन्द से खूब सोया है, विवेकी को निन्द नहीं आती है, क्योंकि जीवरूप विन्द (वर-दुलहा) माया से संग करके तोरन (तोरण-द्वार के बाहर) आया है, तब तक वारण (द्वार) पर काल खड़ा है ॥ ४ ॥

पाँव पलक की सुधि नहि, करै काल का साज।
काल अचानक मारि हैं, ज्यों तीतर को बाज ॥ ५ ॥

कबीर टुगटुग चोधता, पल पल गई बिहाय।
जिव जंजाले पड़ि रहा, दिया दमामा आय ॥ ६ ॥

लूट सकै तो लूट ले, रामनाम भंडार।
काल कंठ ते पकरही, रोकै दशहूं द्वार ॥ ७ ॥

मैं अकेला वह दो जना, सेरी नाहीं कोय।
जो यम आगे ऊबरो, तो जग बैरी होय ॥ ८ ॥

एक पैर आगे धरने और पलक लगने तक को भी जिसको सुधि नहीं है, सो कालान्तर के साज (भोग साधन) करता है। काल अचानक में तीतर को बाज के समान मारेगा ॥ ५ ॥ टुक २ धीरे २ चोधता (देखते) में पल २ में समय बीत गया, जीव जंजाल में पड़ा रहा, काल आ कर कूच का दमामा (नगारा) बजाय दिया ॥ ६ ॥ इसलिये शीघ्र रामनाम का भंडार को लूट सको तो लूट लो। जब काल तेरा कंठ पकड़ेगा, तब दशोद्वार रोकेगा, उस समय कुछ नहीं ले सकोगे ॥ ७ ॥ मैं जीव अकेला हूँ, वह दो जना है, सेरी (उपाय), कोई नहीं है। यदि यम के आगे बचता हूँ, तो दूसरा संसार बैरी होता है। साथी नहीं सहाय। पहुँचे जारा आय। ये द्वितीय चतुर्थ चरण के पाठान्तर हैं ॥ ८ ॥

जरा कुती योवन शशा, काल अहेरी लार।
अबकी छन में पकड़ही, गरवै कहा गमार ॥ ९ ॥

काल हमारे संग बस, कैसी जीवन आस।
दिन दश नाम सँभार ले, जब लग पिंजर सांस ॥ १० ॥

आठ पहर योंही गया, माया मोहक जाल।
राम नाम हृदया नहीं, जीत लिया यम काल ॥ ११ ॥

वारी वारी आपने, चले पियारे मीत।
तेरी वारी जीवड़ा, नियरा आवैं नीत ॥ १२ ॥

जरा (वृद्धावस्था) मानो कुत्ती है, यौवन खरगोस है, और काल शिकारी पास में है सो अब ही या छन में पकड़ेगा। फिर यौवन का गर्व क्या गमार करता है ॥ ६ ॥ हम देह-धारियों के साथ में ही काल बसता है, फिर जीवन की आशा कैसी हो सकती है, जबतक देह में प्राण है तब-तक दशदिन नाम का स्मरण कर लो ॥ १० ॥ जिस मनुष्य के आठो पहर माया मोह के विस्तार में योंही (भजन विना) गया, जिससे राम नाम हृदय में नही है, उसको यम रूप काल जीत लिया ॥ ११ ॥ वारी २ (समय २) पर प्रिय मित्र सब काल वश चल चुके, रे जीव तेरी वारी भी सदा पास में आ रही है ॥ १२ ॥

पंथी ऊभा पंथ सी, बकुचा बांधा पूठ।
मरन[1] मोह आगे खड़ा, जीवन का सब झूठ ॥ १३ ॥

माली आवत देखि के, कलियां करैं पुकार।
फूले फूले चुनि लियों, काल्ह हमारी वार ॥ १४ ॥

बढ़ही आवत देखि कर, तरुवर रुदन कराय।
मैं अपंग संशय नहीं, पक्षी वसते आय ॥ १५ ॥

फागुन आवत देखि के, वन रोता मन माहि।
ऊँची डारी पात था, पियरा ह्वै ह्वै जांहि ॥ १६ ॥

१ मरना मुह आगे ॥ पा० ॥

पूठ (पीठ) पर बकुची गठरी बांध कर पथ में ऊभा (खडा) पथी के समान सब जीव सदा संसार में है, क्योंकि मरन का मोह (संशय) सब के आगे खड़ा है, इससे जीवन का सब व्यवहार झूठ है ॥ १३ ॥ क्योंकि वृद्ध का मरण देख कर बालक भी समझता है, कि बूढे २ गये कुछ दिन में मेरी भी यही दशा होनी है ॥ १४ ॥ परन्तु परोपकारी मृत्यु को आता हुआ देखकर चिन्ता करता है, कि मृत्यु से भागने में मैं तो असमर्थ हूँ इसमें संशय नहीं है, परन्तु इस देह के रहने से अतिथि आदि का सत्कार होता था ॥ १५ ॥ दुष्काल को आता हुआ देखकर संसारी सब चिन्ताग्रस्त होते हैं कि, जो देही किसी ऊंचे स्थान में रहे, सो दुःखी होते हुए पद भ्रष्ट नष्ट हो रहे हैं ॥ १६ ॥

निधरक बैठा राम विनु, चेत न करो पुकार।
या तन जल का बुदबुदा, विनशत नाहीं वार ॥ १७ ॥

पानी केरा बुदबुदा, ऐसी हमारी जात।
देखते हि छिप जाहिगें, ज्यों तारा परभात ॥ १८ ॥

कबीर पांच पखेरूआ, राखा पोष लगाय।
एक जु आया पारधी, सबही लिया उडाय ॥ १९ ॥

मन्दिर मांही झमकती, दीपक की सी जोति।
हंस बटाऊ चलि गया, काढी घर की छोति ॥ २० ॥

पड़दे रहती पद्मिनी, करती कुल की कान।
छडी जु पहुँची काल की, ठार भई मैदान ॥ २१ ॥

ऐसा होते भी अज्ञ जीव राम विना ही निधरक बैठा है। हे भाई चेत (समझ) कर सद्गुरु आदि का शीघ्र पुकार करो (शरण लो) जल के बुदबुद तुल्य देह के नष्ट होते देर नहीं लगेगा ॥ १७ ॥ हमरी (देही की) जात (जाति उत्पत्ति) है ॥ १८ ॥ पांच पखेरुआ (पक्षी तुल्य उडाकु प्राण या

इन्द्रिय) को पोषण करके रखा गया। पारधी (व्याघा-काल) ॥ १९ ॥ झमकती (प्रकाशती फिरती) जो देह, उसमें से वटाऊ (पथिक) हंस (जीवात्मा) जब चल गया, तब उस देह को घर के छूत समझ कर काढ़ा (निकाला) गया ॥ २० ॥ जो पद्मिनि (उत्तम स्त्री) परदे में रहती थी, कुलकी कान (मर्यादा) करती थी, काल की छड़ो पहुँचने पर वह भी मैदान में खड़ी हो गई। २१ ॥

कहा चुनावै मेढिया, लम्बी भीन उसार।
घर तौठीति हाथ घना, ना तो पौने चार ॥ २२ ॥

पांच तत्त्व का पूतला, मानुष धरिया नाम।
दशे दिना के कारने, फिर फिर रोकै ठाम ॥ २३ ।

मछली दह छूटै नहीं, धीमर मेरा काल।
जिहि जिहि डावर घर करौं, तहँ तहँ मेलै जाल ॥ २४ ॥

पानी महँ की माछली, क्यों तूं पकरी तीर।
कड़ी जु खड़की जाल की, आये पहुचा कीर ॥ २५ ॥

ये मतिहीनी माछली, राखि न सको शरीर।
सो सरवर है आनही, जाल काल न कीर। २६ ॥

मेढिया (महल) क्या वनवाता है कि जिसमें लम्बी भीत ओसारा वनवाता है, घर तौठीवि (साढ़े तीन) हाथ का बहुत है, नहीं तो पौने चार हाथ का चाहिए ॥ २२ ॥ फिर-फिर कर ठाम (स्थान) को रोकता (दखल करता) है ॥ २३ ॥ यद्यपि मछली दह (जलाशय) को नहीं छोड़ती है समझती है कि धीमर मेरा काल है, इससे जिस-जिस अल्प जलाशय में घर करुंगी तहां २ जाल डारेगा। अर्थात् मनुष्य की वुद्धि मृत्यु से डर कर बहुत आश्रय लेती है ॥ २४ ॥ तो फिर एक दिन ऐसी अवस्था आती है कि वुद्धि मरणाभिमुख होवी है, और काल रूप कीर (धीमर) पहुँच जाता है ॥ २५ ॥ क्योंकि

इस संसार में शरीर को कोई भी रख नहीं सका, वह सरोवर ही कोई अन्य है कि जहां काल का जाल (कर्म) और कीर का सम्बन्ध नहीं है ॥ २६ ॥

हे मतिहीनी माछली, धीमर मीत कियाय।
करि समुद्र सो रूठना, झीलर चित्त दियाय ॥ २७ ॥

हे मतिहीनी माछली, झीलर माडी आल।
डावरियाँ छूटै नहीं, सकै त समुँद सँभाल ॥ २८ ॥

आँखड़िया रतनालियां, चेजा करै पताल।
पासा ढरिया कर्म का, यों मैं बंधा जाल ॥ २९ ॥

सूखन लागै केवरा, टूटन लागी डार।
पानी की कल जानता, चला सो सींचनहार ॥ ३० ॥

मतिहीन जीव काल को ही मित्र किया, और ब्रह्मात्मा समुद्र से रुष्ट हो कर झीलर (तुच्छ जलाशय तुल्य संसार) में चित्त दिया ॥ २७ ॥ हे मतिहीन जीव यद्यपि तुम झीलर में आल (खेल क्रीड़ा) माड़ा (कर रहा) है। परन्तु त्रिलोकरूप डावरों में काल धीमर से नहीं छूट सकते हो, कर सकते हो तो तुरीयात्मा समुद्र का स्मरण करो ॥ २८ ॥ यद्यपि मनुष्य की दृष्टि (आंख) रत्न तुल्य है, और कर्मोपासना रूप पाताल में चेजा (शय्या) करता है। परन्तु पूर्वोपार्जित कर्म का पासा ढरा (मोका) आया कि जिससे ममता आदि रूप जाल में बंध गया ॥ २९ ॥ फिर कमलादि रूप केवड़ा सूखने लगा, नाडी आदि डार टूटने लगी, पानी का कल (जीवका रहस्य) को समझने वाला कालरूप सेंचनहार चला सो शरीर सरोवर को सुखा दिया ॥ ३० ॥

धमनी धवती रह गई, बूझन लगा अँगार।
अहरन षडका रहि गया, जब उठि चला लुहार ॥ ३१ ॥

काहे हरिनी दूवरी, इहे हरियरे ताल।
लाख अहेरी एक जिव, केतिक टारै भाल ॥ ३२ ॥

विष के वन में घर किया, सर्प रहा लपटाय।
ताके डर जिव गहि रहा, जागत रैनि विहाय॥ ३३॥

राम कहा तिन कहि लिया, जरा पहूंची आय।
मन्दिर लागी द्वार लौ, अव कछु काढि न जाय॥ ३४॥

वरिया वीते वल घटे, केश पलट भौ और।
विगरा काज समारि ले, कर छूटे नहीं ठौर॥ ३५॥

फिर अन्त में धमनी (नाडी) धवती (चलती) हुई कुछ काल रह गई, परन्तु अँगार (ज्ञान शक्ति) बूझने लगा, इससे मानो जीवरूप लुहार के अन्य सब साधन समाप्त हो गये, केवल वासनादि रूप अहरन और संचित आगामी कर्म रूप पडका (सरसी) रह गया, तव लुहार उठ चला॥ ३१॥ इस जीव की बुद्धि मनुष्य देह में भी इसी से कमजोर है कि काल कर्मादि लाखों शिकारी हैं, और जीव एक है, कितना भाला हटावे॥ ३२॥ बुद्धि की कमजोरी से ही विषय विषके वन में घर किया जहां काल सर्प लिपट रहा है। उसका भय भी जीव मान रहा है, उचित है कि विवेक से जागते ही में मोहरात्रि को बितावे॥ ३३॥ जाग कर जिन्होंने राम भजा सो भजा, नहीं तो देह मन्दिर के द्वार में जब लौ (कालाग्नि) लगी तो कुछ भी घर में से काढा नहीं जा सकता॥ ३४॥ वरिया (समय) बीते, बल घटे, केश सफेद हुए, इस समय भी विगरा काम सम्हार लो, और सो काम करो कि जिससे अपना ठौर नहीं छूटे॥ ३५॥

कवीर हरि से हेत कर, कोरै चित्त न लाय।
वांध्यो वारि खटीक के, ता पशु केतिक आय॥ ३६॥

कांची काया मन अथिर, थिर थिर काम करन्त।
ज्यों ज्यों नर निधरक फिरैं, त्यों त्यों काल हसन्त॥ ३७॥

कवीर सव सुख राम है, और हि दुख की रासि।
सुर नर मुनि जन असुर सुर, पडे काल की फांसि॥ ३८॥

काल्ह करन्ता आज कर, आज करन्ता अब्ब।
पल में परलय होयगा, बहुरि करोगे कब्ब ॥ ३९ ॥

आज कहै हरि काल्ह भजु, काल्ह कहै पुनि कालि।
आज काल के अन्तरा, अवसर जासी चालि ॥ ४० ॥

ठौर नहीं छूटने के लिये हरि से प्रेम करो, और कोरै (कुढे कुकर्मादि) चित्त में नहीं लाओ, समझो कि जो पशु खटिक (कसाई) के बारि (द्वार पर) बांधा है तिस के कितना आय (आयु) है, और काल के द्वार पर भी ऐसा ही समझो ॥ ३६ ॥ कांची (नश्वर) आंथिर (चञ्चल) थिर (बीरे-बांरे) निधरक (निश्चिन्त) ॥ ३७ ॥ सब सुख स्वरूप राम हैं, राम से अन्य ही दुःख के राशि रूप है, इससे राम बिना सब काल के फांस में पड़े हैं ॥ ३८ ॥ इसलिये जो राम भजनादि काल्ह करना है, सो आज करो, आज किसी समय करना है सो अवही करो, क्योंकि यदि पल भर में मृत्यु होगी तो फिर कब करोगे ॥ ३६ ॥ जो आज काल्ह करके समय टालता है, उसका आज काल्ह के बीच में ही समय चला जायेगा भजन नहीं होगा इत्यादि (आज काल्ह करता रहै) पाठान्तर है ॥ ४० ॥

टाला टोली दिन गया, व्याज बढन्ता जाय।
ना हरि भजै न खत फटै, काल पहूंचा आय ॥ ४१ ॥

ज्यों कोरी रेजा बुनै, बुनता आवै ओर।
ऐसा लेखा मीच का, दौरि सकै तो दौर ॥ ४२ ॥

कबीर पगरा दूरि है, बीच पडी है रात।
ना जानौ क्या होयगा, उगन्ता परभात ॥ ४३ ॥

जारनहारा भी मुआ, मुआ जलावनहार।
है है करते भी मुये, कासो करौं पुकार ॥ ४४ ॥

धन संचय संग्रह करै, वह दिन जानै नाहि।
सहस वरष का सौज कर, मरै मुहूरत माहि ॥ ४५ ॥

जैसे कर्ज खाने वाला यदि टाला टोली करता है, तो दिन जाने से व्याज (सूद) बढता जाता है, तैसे भक्ति ज्ञान में टाला टोली करने से कर्म बढता है, भक्ति बिना खत (कर्म लेख) नष्ट नहीं होता, इससे काल आकर पहुँचता है ॥ ४१ ॥ जैसे कोरी (जुलाहा) रेजा (थान) बिनता है तो बिनते २ ओर (अन्त) आता है, ऐसा ही मृत्यु का हिसाब है, उसके आने से प्रथम भाग सको तो भागो ॥ ४२ ॥ पगरा (मार्ग) दूर है, और बीच में यदि रात आ गई है तो पता नहीं कि प्रभात सूर्योदय होते तक क्या होगा, इसलिये रात को भी अपना मार्ग चलो ॥ ४३ ॥ जारने वाला जलानेवाला है २ करने वाले ये सब मरे, इन में बचने के लिए किससे पुकार किया जाय, जलन रहित राम सद्गुरु का पुकार करो ॥ ४४ ॥ जो मनुष्य धन का संचय वस्तुओं का संग्रह करता है, सो उस मरण का दिन को नहीं जानता है, क्योंकि हजार वर्ष का सौज (साज-साधन) करता है और मुहूर्त मात्र में मरता है ॥ ४५ ॥

चहुँ दिशि पाका कोट था, मन्दिर नगर मझार ।
खिरकी खिरकी पाहरू, गज बांधा दरबार ॥ ४६ ॥

चहुं दिशि ठाढ़े शूरमा, हाथ लिये हथियार ।
सब ही यह तन देखतां, काल ले गया मार ॥ ४७ ॥

दव की दाधी लाकडी, ठाढी करै पुकार ।
मति वश पड़ो लुहार के, जालै दूजी बार ॥ ४८ ॥

[1]मैं राजी लोहार का, तू मति जारै मोहि ।
एक दिन ऐसा होयगा, हूं जालूंगा तोहि ॥ ४९ ॥

काया काठी काल घुन, यतन यतन घुन खाय ।
काया मध्ये काल बस, काहू मरम न पाय ॥ ५० ॥

१ मेरा वीर लुहारिया । पा० ॥

जिस धनी राजा के चारों तरफ पक्का कोट, नगर में मकान, खिड़कियों पर रक्षक, चारों तरफ अस्त्रधारी वीर, दरबार में बांधे हुए हाथी आदि थे तब भी अन्य सब उसके शरीर को देखते ही थे, परन्तु काल मार कर ले गया ॥४६-४७॥ इससे संसार दुःख से दग्ध लकड़ी तुल्य जीव खड़ा होकर ईश्वर से पुकार करता है कि काल रूप लुहार के वश में नहीं पड़े कि जो दूसरी वार भी जलाता है ॥ ४८ ॥ मैं उस लोहार को भी राजी (स्तुति से प्रसन्न) करना चाहता हूँ कि तू मुझे नहीं जलाओ, नहीं तो एक दिन ऐसा भी आयगा कि मैं भी ज्ञानाग्नि से तुझ जलाऊंगा ॥ ४९ ॥ शरीर काठ तुल्य है, और काल घुन है, सो इसे युक्ति २ से खाता है। इस में ही प्राणादि रूप से रहता है, उस का भेद कोई नहीं जानता है ॥ ५० ॥

संशय काल शरीर में, विषम काल है दूर।
जाको कोइ जानै नहीं, जारि करै सब धूर ॥ ५१ ॥

जारै बारै मसि करै, मसि करि करै जु छार।
कहैं कबिर कोइला करै, फिरि कै दे अवतार ॥ ५२ ॥

ताजी छूटा सहर में, कसबा पड़ा पुकार।
दरवाजा दीया रहा, निकस गया असवार ॥ ५३ ॥

आसपास योधा खडे, सबे बजावैं गाल।
मांझ महल ते ले चला, ऐसा वरबस काल ॥ ५४ ॥

भाई वीर बटाउआ, नैंन भरी भरि रोय।
जिसका था सोई लिया, दीया था दिन दोय ॥ ५५ ॥

संशय शरीर में काल है, विषम (कठिन) काल दूर है, जिसको कोई समझता नहीं है। सब को जला कर धूर करता है ॥ ५१ ॥ संशय रूप काल ही जारना बारना मसि छार कोइला करता है और फिर अवतार देता है ॥५२॥ (चंचल ताजी मन प्राण) जब देह सहर में छूटा, तब कसबा (इन्द्रिय समूह) में

पुकार परा, फिर सब दरवाजे दिये (बन्द) ही रहे, परन्तु असवार जीवात्मा निकल गया ॥ ५३ ॥ बीरों के बात करते रहने पर मध्य महल से जीव को बलि काल ले चला ॥ ५४ ॥ भाई वीर पथिक सब रोते और कहते हैं कि जिसका था सो ले गया, दो दिन के लिये हमें दिया था ॥ ५५ ॥

सब[1] को काल गरासई, बहुत कहा समुझाय ।
कहैं कबिर मैं क्या कहूं, देखत ना पतियाय ॥ ५६ ॥

कुशल जो पूछो असल की, आशा लागी लोय ।
नाम बिहना जग मुआ, कुशल कहां ते होय ॥ ५७ ॥

गगन गरासै चन्द्रमा, असुर गरासैं लोग ।
ओरहा होय न पावई, ताते दिन दिन रोग ॥ ५८ ॥

कूवाँ केरी पाल पर, बैठे पारधि आय ।
तीन लोक धरि खाइया, विकुंठ दिखाय दिखाय ॥ ५९ ॥

काल कृत गरास को जीव सब सदा देखता है, तो भी विश्वास नहीं होता है (शब्द नहीं ठहराय) यह अन्तिम चरण के पाठान्तर है ॥ ५६ ॥ असल (सत्य) की कुशल आदि पूछो तो कुशल क्या कहा जाय, आशा रूप लोय (अग्नि) लगी है, या लोय (लोगों) में आशा लगी है, इससे नाम बिना ही जग मरा, फिर कुशल किससे हो ॥ ५७ ॥ जैसे गगन में चन्द्रमा को असुर ग्रासता है, तैसे आशा लोभ को ग्रासती है, इससे ओरहा (ओरगामी-अनन्ततत्त्वज्ञ) नहीं होने पाता है, तिससे दिन २ रोग (कामादि) होते हैं ॥ ५८ ॥ हृदयादि कूप के पाल (तट) पर संशयादि रूप पारधी (व्याध काल) आ कर बैठा है, सो वैकुण्ठादि लोकों को देखा २ कर (उनकी आशा कराकर) तीनों लोक को धर कर खाता है ॥ ५९ ॥

कागा काय छिपाय के, कियो हंस का भेष ।
चलो हंस घर आपने, लेहु धनी का देश ॥ ६० ॥

१ निश्चय काल । पा० ॥

श्वेत पंख मुख नैन है, स्याम चोंच नहीं लाल।
तुम तो हंस न आय हो, तुम तो आय हु काल ॥ ६१ ॥

चरन चोंच लोचन रतन, चलो मराली चाल।
हंसिनी चाल विचारिया, यह तो अहै जु काल ॥ ६२ ॥

आशा रूप काग अपनी काया को छिपा कर हंस का वेष किया है, इस अवस्था में हे हंस जीव! तुम अपने घर हृदय स्वरूप में चलो, धनी प्रभु का देश लो, आशा के पीछे नहीं लगो ॥ ६० ॥ इस आशा के पंखादि श्वेत (सात्त्विक) सा दीखते हैं, परन्तु चोंच स्याम (तामस) है, लाल (रक्त प्रेम युक्त) नहीं है, क्यों कि आशा लोभ जन्य प्रेम वस्तुतः प्रेम नहीं है, इसलिये हे आशे! तुम हंस नहीं आये हो किन्तु तुम काल आये हो ॥ ६१ ॥ तेरे चरणादि रतन तुल्य हैं, हंस के चाल भी चलती हो, परन्तु तोभी हंसिनी (विवेकवती बुद्धि) विचार किया कि यह काल ही है इत्यादि ॥ ६२ ॥

चलती चाकी देखिके, दिया कबीरा रोय।
दो पाटन विच आयके, सावुत गया न कोय ॥ ६३ ॥

आसै पासै जो फिरै, निपट पिसावै सोय।
कीला सो लागा रहै, ताको विघ्न न होय ॥ ६४ ॥

चाकी चली गुपाल की, सब जग पीसा झारि।
रूठा शब्द कबीरका, डारा पाट उखारि ॥ ६५ ॥

दो पाटन (द्वन्द्व), सावुत (सुखी-तृप्त), आसै पासै (संसार), निपट (अत्यन्त), पिसावै (पीडित होवै), कीला (जगदाधार), विघ्न (दुःख)। रूठा (समर्थ) (या स्थिर) ॥ ६३ से ६५ ॥

इति काल का अंग ॥

अथ सजीवन का अंग ॥ ६० ॥

जरा मरण व्यापै नहीं, मुआ न सुनिये कोय।
जिनके शब्द प्रतीति है, सतगुरु शरना सोय ॥ १ ॥

भव सागर ते यों रहैं, ज्यों जल कमल निराल।
मनुवा तहँ लै राखिया, जहाँ नहीं यम जाल ॥ २ ॥

कबीर योगी वन वसा, खनि खाया कंद मूल।
ना जानै किस जड़ी से, अमर भया अस्थूल ॥ ३ ॥

कबीर तो हरि पै चला, माया मोह से तोरि।
गगन मंडल आसन किया, काल रहा मुख मोरि ॥ ४ ॥

कबीर मन तीखा किया, लाय विरह खरसान।
चित चरणों से चहुंटिया, तव न काल का वान ॥ ५ ॥

जिनको शब्दोपदेश के विश्वास है, सो सतगुरु के शरण में है कि जहाँ जरा मरण नही व्यापता है, न कोई मुआ सुना जाता है ॥ १ ॥ क्योंकि सो भवसागर में ऐसे रहत हैं कि जैसे जल मे कमल पत्र असंग रहता है। मन को उस ब्रह्मात्मा में लेकर रखा है कि जहां यम जाल नहीं है ॥ २ ॥ इस साधन के विना जो योगी होकर वन में वसा और कन्दादि खन कर खाया, वह नहीं जानता है, कि किस जडी से स्थूल देह अमर हो रहा है। अर्थात् अज्ञान मूल कारण को वह न जानता है, न नष्ट करता है ॥ ३ ॥ ज्ञानी तो माया मोह (अज्ञान आसक्ति) को नष्ट करके हरि के प्रति चला, और गगन मंडल (चिदाकाश) में आसन किया, जिससे काल मुख मोड़ रहा ॥ ४ ॥ विरह भक्ति रूप खरसान तीक्ष्ण सान लगा कर मन को तीक्ष्ण किया, फिर चित्त हरि गुरु के चरणों मे चिपट रहा, तब काल का वान नहीं रहा ॥५॥

काची रती मति करो, दिन दिन बढये व्याधि।
राम कबीरा रुचि भई, याही औषधि साधि ॥ ६ ॥

कबीर संशय जीव में, कोइ न कहि समुझाय।
विधि विधि बानी बोलता, सो कित गया विलाय ॥ ७ ॥

कच्ची रति (प्रीति) नहीं करो, उससे सदा व्याधि बढता है, जीव को राम में रुचि हुई है, इसी औषधि को साधो ॥ ६ ॥ जीव में मरणादि का संशय है, कोई समुझा कर कहता नहीं है कि जो अनेक प्रकार की बानी बोलता है, सो कहीं बिलाया नहीं है ॥ ७ ॥

इति सजीवन का अंग ॥

अथ पश्चात्ताप का अंग ॥ ६१ ॥

आछे दिन पाछे गये, पिय सो किया न हेत।
अब पछताये होत क्या, चिडिया खाया खेत ॥ १ ॥

केला क्यों नहिं चेतिया, जब ढिग जामी बेर।
अबके चेते होत क्या, कांटन लीन्हा घेर ॥ २ ॥

जब रँग था तब ना रंगा, हरि रंग मान मजीठ।
अब पछताये क्या हुवा, जब रंग दीन्ही पीठ ॥ ३ ॥

मरति विरिया दान कर, जीवत बडा कठोर।
कहैं कबिर क्यों पाइये, खाड़ा काढे चोर ॥ ४ ॥

अच्छा समय पहले गया तब जो प्रिय हरि से हेत (प्रेम) नहीं किया, फिर वृद्ध रुग्णादि अवस्था में पछताने से क्या होगा कि जब इन्द्रिय रूप पक्षी खेत चर गये ॥ १ ॥ कोमल चित्त जीव यदि उस समय नहीं चेता कि जब क्रूर कलहप्रिय संग लगे, तो अब पछताने से क्या होगा कि जब वे क्रूर अपने कुटिल व्यवहार से वश में कर लिये ॥ २ ॥ जब रंग (सामर्थ्यादि) शरीर में था, तब जो हरि रंग (प्रेम) को मजीठ (पक्का) मान कर उस रंग में नहीं रँगा, फिर जब सामर्थ्यादि पीठ दिये (विमुख हुये) तो अब

पछताने से क्या हुआ॥ ३॥ मरती विरिया (मरते समय) दान करता है, और जीवितावस्था में बहुत कठोर (क्रूर) रहता है, तो वह खड्ग को काढ़कर स्थिर चोर को कैसे पा सकता (वश कर सकता) है, अर्थात् वह काल को नहीं वश कर सकता है, क्योंकि पूर्व के कर्मादि के अनुसार फल देने के लिये साधन सहित काल उपस्थित हो चुका है। अतः दानादि प्रथम ही कर्तव्य हैं॥ ४॥

इति पश्चात्ताप का अंग॥

अथ साक्षीभूत का अंग॥ ६२॥

कबीर पूछै राम को, सकल भुवनपति राय।
सबही करि न्यारा, रहै, सो विधि[1] देहु बताय॥ १॥

जिस बिरिया सांई मिले, तासु न जानो और।
सब को सुख दे शब्दका, अपनी अपनी ठौर॥ २॥

पारस रूपी राम है, लोहा रूपी जीव।
जब जा पारस भेटसी, तब जिव होसी सीव॥ ३॥

दया कौन पर कीजिये, का पर निर्दय होय।
हम तो भये तमासगी, नाटक बाजी सोय॥ ४॥

ज्ञानी राम को पूछते हैं कि, हे सब भुवन के पतियोंका राजा राम सब व्यवहार करके भी जिस प्रकार न्यारा रहे सो विधि (प्रकार) जीव को बता दो (गुरु अन्तर्यामी रूप से समझा दो॥ १॥ जिस समय स्वामी मिले उस समय स्वामी से और को नहीं जानौं तथा सबको अपनी २ ठौर में शब्द का सुख दे सकें, सो विधि समझा दो॥ २॥ राम का कहना है कि राम पारस रूप है, जीव लोहा रूप है. सो जीव जब पारस से मिलेगा

१ साइ दहुं। पा०॥

तब शिव (कल्याण) स्वरूप होगा ॥ ३ ॥ उसको ज्ञान होगा कि किस पर दया करें, किस पर निर्दय होयँ, हम तो तमाशा देखने वाले हुए हैं, और वह राम ही माया से नाटकबाजी हुआ है ॥ ४ ॥

इति साक्षीभूत का अंग ॥

अथ कपट का अंग ॥ ६३ ॥

कबीर तहां न जाइये, जहाँ कपट का हेत।
जानो कली अनार की, तन राता मन सेत ॥ १ ॥

नमन नमा तो क्या हुवा, सूधा चित्त न ताहि।
पारधिया दूना नमै, मिरग ही टूकै जाहि ॥ २ ॥

नमन नमन बहु अन्तरा, नमन नमन बहु बान।
ये तीनों बहुते नमै, चीत्ता चोर कमान ॥ ३ ॥

संसारी सांकट भला, कन्या क्वारो भाय।
दुराचारि वैष्णव बुरा, हरिजन तहां न जाय ॥ ४ ॥

जहाँ कपट का प्रेम हो तहाँ नहीं जाना चाहिए, अनार की कली के समान तन के राता (रक्त-प्रेमी) और मन के सेत (प्रेमहीन) को समझना चाहिये ॥ १ ॥ नमस्कार से यदि नमा तो इससे क्या हुआ, यदि उसका चित्त सीधा नहीं है, व्याधा तो द्विगुण नमता है, परन्तु मृग हि टूके (मारे) जाते हैं ॥ २ ॥ नमने २ में बहुत भेद है, और नमने २ में बहुत बान (स्वभाव) की भी बात है, चित्ता, बाघ, चोर और धनुष स्वभाव से ही बहुत नमते हैं, परन्तु, उससे परहित नहीं होता है ॥ ३ ॥ संसारी सांकट भी सदाचारी हो तो भला है, कुमारी भी कन्या धर्मनिष्ठावाली भावती है, परन्तु दुराचारी वैष्णव हो तो सब से बुरा है, हरिजन उसके यहाँ नहीं जाय ॥ ४ ॥

कबीर तहां न जाइयं, जहां न चोखा चित्त।
परपूटा अवगुन घना, मुहरे ऊपर मित्त॥ ५॥
आगे दर्पण ऊजला, पीछे विषम विकार।
आगे पीछे और सी, क्यों न परै मुख छार॥ ६॥
पेट कतरनी जीभ रस, मुख देखे को रंग।
आगे भलि पीछे बुरी, तिन का त्यागिय संग॥ ७॥
कबीर तहां न जाइये, जहां कपट का हेत।
नव मन बीज जु बोय के, खाली रहि गौ खेत॥ ८॥

जहाँ चोखा (शुद्ध) चित्त नहीं हो, तहां नहीं जाना चाहिये, वहाँ परपूटा (पीछे, पर के सामने) घना अवगुण की बात रहती है, और वह मुख पर के मित्र होता है॥ ५॥ दर्पण के आगे साफ और पीछे विकार रहता है, तस को साफ करने के लिये मुख मे छार दिया जाता हैं, तैसे ही जिसके आगे पीछे अन्य के समान है, उसके मुख मे धूल क्यों न पड़ेगा ।॥ ६॥ जिसके पेट में कतरनी (कपट) है, मुख में रस (प्रेम) है, मुख देखी बात हैं। इससे आगे भली और पीछे बुरी बात है, उस का संग त्यागना चाहिये॥ ७॥ ऊषर में नव मन बीज बोने पर भी खेत खाली रहता है, तैसे कपटी में नवधा भक्ति भी फल प्रद नहीं होती हैं॥ ८॥

बहुतक दिन ऐसे गया, अबरुचती का नेह।
ऊषर बीज न जामई, जा घन बरषै मेह॥ ९॥
कबीर तहां न जाइये, जहँ नाना व्रत भाव।
लागे ही फल ढहि परै, बाजे काई कुबाव॥ १०॥
भक्त भया तो क्या भया, माला पहिरा चार।
ऊपर कली लपेटि के, भीतर भरा भँगार॥ ११॥

मुख की मीठी जो कहै, हृदया मत है आन।
कहैं कबिर तिहि लोग से, तैसे राम सयान ॥ १२ ॥

अनरुचती (कपटी) का नेह (भक्ति) भी बहुत दिनों का इस प्रकार निष्फल गया कि जैसे मेघ के घना वर्षने पर भी ऊषर में बीज नहीं जमता है ॥ ६ ॥ जहां नाना भाव वरतता हो, तहाँ नहीं जाना चाहिये, क्योंकि वहाँ फल नही लगेगा, यदि फल लगेगा भी तो ऐसा कोई कुवाव (कुवायु· कुवचन) वाजेगा (वहेगा बोलेगा) कि लागा हुआ फल भी ढह परेगा ॥ १० ॥ कली (चूना तिलक), भीतर (घर-हृदय), भंगार (कूरा-कपट), ॥ ११ ॥ मुख की मीठी (मधुर) जो कहता है, और हृदय में आन (क्रूरता) है, तो उसके लिये सयान (सर्वज्ञ) राम भी तैसा ही (बाहर मधुर, भीतर क्रूर) हैं ॥ १२ ॥

इति कपट का अंग ॥

अथ गुरु शिष्य हेरा का अंग ॥ ६४ ॥

ऐसा कोई ना मिला, हम को दे उपदेश।
भवसागर में बूडता, कर गहि काढै केश ॥ १ ॥

ऐसा कोई ना मिला, नाम भक्त का मीत।
तन मन सौंपे मिरग ज्यों, सुनि पायक का गीत ॥ २ ॥

ऐसा कोई ना मिला, घर दे अपन जलाय।
पांचो लड़के पटकि के, रहै नाम लौं लाय ॥ ३ ॥

ऐसा कोई ना मिला, हमको ले पहिचान।
अपना करि किरपा करै, लै उतरै मैदान ॥ ४ ॥

शिष्य कहता है कि ऐसा कोई सद्गुरु हमें नहीं मिला, जो हमें उपदेश दे। भव सागर में बूड़ते हुए को हाथ में केश पकड़ कर भी निकाले ।। १ ।। गुरु का कथन है कि ऐसा कोई शिष्य नहीं मिलता है कि जो नाम भक्त का मित्र हो, और सद्गुरु के प्रति मृग के समान तन मन सौंप कर पायक (अमृत पान कराने वाला गुरु) का गीत (उपदेश) को सुने, तथा पायक के गीत को सुनकर तन आदि को सौंपे, जैसे व्याधा के गीत को सुन कर मृग अर्पण करता है ।। २ ।। तथा जो अपने घर (देह गृहादि के अभिमान) को नष्ट करे, और पांच लड़के (ज्ञानेन्द्रिय) के विषय को त्याग कर नाम मे लव लगाया रहे, सो नहीं मिलता है ।। ३ ।। शिष्य कहता है कि ऐसा सद्गुरु नहीं मिलते जो जिज्ञासु भक्त शिष्य को पहिचान लें और अपना जन करके कृपा करें, तथा शिष्य को लेकर मोक्ष मार्ग के मैदान में साथ ही उतरें ।। ४ ।।

ऐसा कोई ना मिलै, समझै सैन सुजान।
ढाल दमामा ना सुनै, सुरति विहूना कान ।। ५ ।।
ऐसा कोइ ना मिला, सब विधि देंउ बताय।
सुन्न मंडल में पुरुष है, तहां रहै लव लाय ।। ६ ।।
तीन सनेही बहु मिले, चौथा मिला न कोय।
सब ही पियारे राम के, बैठे परवश होय ।। ७ ।।
सारा शूरा बहु मिले, घायल मिला न कोय।
घायल को घायल मिले, राम भक्ति दृढ़ होय ।। ८ ।।

गुरु का कथन है कि जो सुजान (विवेकी) हो कर सद्गुरु के सैन को समझे, और बाह्य सुरति (ध्यान) रहित होने से जिसके कान ढोल दमामा (नगारा) को नहीं सुने, ऐसा शिष्य कोई नहीं मिलता है ।। ५ ।। ऐसा कोई नहीं मिलता है कि जिसके प्रति सुन्न मण्डल (हृदय) में जो

पुरुष है उसका उपदेश सब प्रकार से किया जाय, और वह उस हृदय में ही लौ लगाकर स्थिर रहे ॥ ६ ॥ बृहदा-अ० ३।५ के अनुसार मुमुक्षु, जीव पुत्र वित्त लोकेच्छा रहित होते हैं, और पुत्रादि तीन के ही सनेही (प्रेमी) बहुत मिलते हैं, चौथा आत्मप्रेमी कोई नहीं मिलता है। इससे सब तीन के पियारे (प्रेमी) राम (ईश्वर) के परवस (अधीन) हो कर बैठे हैं, तथा राम के प्यारे भी तीन के परवश हो बैठे हैं ॥ ७ ॥ इससे सारा (सर्वांङ्गयुक्त) सूर बहुत मिले, परन्तु घायल नहीं मिला, अर्थात् अभिमान रहित नहीं मिला, और निरभिमान को निरभिमानी के मिलने से राम भक्ति दृढ़ होती है ॥ ८ ॥

प्रेमी ढूंढत मैं फिरूं, प्रेमी मिला न कोय।
प्रेमी को प्रेमी मिले, तो विष अमृत होय ॥ ९ ॥
सर्पंहि दूध पिलाइये, सो तो विष ह्वै जाय।
ऐसा कोई ना मिला, जो आपहि विष खाय ॥ १० ॥
जैसा ढूंढत मैं फिरौं, तैसा मिला न कोय।
तत वेता तिरु गुन रहित, निर्गुन सों रत होय ॥ ११ ॥

अभिमान को त्याग कर सद्गुरु सत्यआत्माराम के प्रेमी को ढूंढता हुआ मैं (सद्गुरु) फिरता हूँ, परन्तु कोई प्रेमी मिलता नहीं है यदि प्रेमी (सद्गुरुको) प्रेमी (शिष्य) मिले, तो उस शिष्य की विषय विषमय वासना भावना अमृत मय हो जाय ॥ ९ ॥ सत्य प्रेमादि विना तो जैसे सर्प को दूध पिलाने से वह विष हो जाता है, तैसे सदुपदेश भी असत् फल का हेतु होता है, इससे प्रेमादि बिना ऐसा कोई नहीं मिलता कि जो अपने विष (कुवासना) को आप खाकर (नष्ट करे) प्रारब्धानुसार प्राप्त न्याय्य भोग मात्र से तृप्त रह कर लोभादि को नष्ट करे ॥१०॥ इससे जैसा मैं ढूंढता हूँ, ऐसा कोई नहीं मिला, तत्त्ववेत्ता (विवेकी) त्रिगुणमय लोकादि की इच्छा से रहित और निर्गुणात्मा

के खोज में तत्पर शिष्य, त्रिगुण पर आत्मनिष्ठ गुरु दोनों दुर्लभ है, दोनों के मेलादि बिना रामभक्ति मुक्ति दुर्लभ है ॥ ११ ॥

जैसे सति पिय संग जरै, आशा सबकी त्याग।
सुघर कूर सोचै नहीं, सिख पतिवर्त सुहाग ॥ १२ ॥

सर्वस सीस चढ़ाइये, तन कृत सेवा सार।
भूख प्यास सह ताडना, गुरु के सुरत निहार ॥ १३ ॥

गुरु को दोष रति हु नहीं, शीष न शोधे आप।
शीष न छाड़ै मनमता, गुरु हि दोष का पाप ॥ १४ ॥

क्योंकि अधिकारी शिष्य पतिव्रता सती के समान सब आशा को त्याग कर सर्वात्मा पति के साथ ज्ञानाग्नि से जल मरता है, और सुघर कूर (सीधा-टेढा, या सुरूप कुरूप) को नहीं शोचता है, कैसी भी सद्गुरु की सीख (शिक्षा) हो, उससे वह पतिवर्त (विचारादि पूर्वक भक्ति) रूप सुहाग सौभाग्य में लगता है ॥ १२ ॥ वह सर्वस्व तथा शीष का अर्पण करके शरीर से सार (सच्ची) सेवा करता हुआ, भूखादि को सहता हुआ गुरु के सुरत को देखता है ॥ १३ ॥ और वह समझता है कि गुरु को रत्ति मात्र भी दोष नहीं है, शिष्य ही तप आदि से अपनेको नहीं शोधता है, इससे वह मनमता (अविवेक-मोह) को नहीं छोड़ता है, मुक्त नहीं होता है, तो इसमें गुरु को कौन दोष या पाप है ॥ १४ ॥

जैसी सेवा शिष करै, तस फल प्रापत होय।
जो बोवै सो लोंव ही, कहै कबीर विलोय ॥ १५ ॥

हिरदे ज्ञान न ऊपजे, मन परतीत न होय।
ताको सतगुरु क्या करै, घन घसि कुल्हर न होय ॥ १६ ॥

घन घसिया जोई मिले, घन घसि काढ़ै धार।
मूरख ते पण्डित किया, करत न लागी बार ॥ १७ ॥

जैसी सेवा (भक्ति) शिष्य करता है, तिसके अनुसार ही गुरु आदि से फल प्राप्त होता है, क्योंकि जो बोया जाता है, सोई लोवा (काटा-पाया) जाता है। सो विलोय (मथ-विचार) कर गुरु कहते हैं ॥ १५ ॥ जैसे लुहार के घन को घिस कर कुल्हारी नहीं किया जाता, तैसे श्रद्धादि रहित को गुरु से भी ज्ञान नहीं उत्पन्न होता है, न मन में प्रतीति होती है ॥ १६ ॥ परन्तु जैसे कोई निरन्तर उद्यम करने वाला घन को घिसने वाला मिले तो घन को घस कर भी उसमें धार निकाले (सिद्ध करे) तैसे श्रद्धादि सहित मूर्ख को भी सत्गुरु ने निरन्तर अभ्यासादि कराकर पण्डित किया, और पण्डित करने में बहुत बार नहीं लगी ॥ १७ ॥

धन धन सिष की सुरति को, सतगुरु लिये समाय।
अन्तर चितवन करत है, सुरत हि ले पहुंचाय ॥ १८ ॥

गुरु बिचारा क्या करे, वांस न इन्धन होय।
अमृत सींचे वहुत रे, बुन्द रही नहिं कोय ॥ १९ ॥
गुरु भया नहिं सिष भया, हिरदे कपट न जाव।
आलो पालो दुख सहै, चढि पाथर की नाव ॥ २० ॥

उस शिष्य की सुरति को बार-बार धन्यवाद है कि जो सुरति सद्गुरुरूप स्वामी को अपने अन्दर समाय लिया है, अन्दर में ही चितवन (ध्यान) करती है, वही सुरति जीव को लेकर मोक्ष भवन में तुरन्त पहूँचाती है ॥ १८ ॥ जैसे सार रहित वांस मलय के संग से भी चन्दन काष्ठरूप इन्धन नहीं होता, तैसे अविवेकी मुक्त नहीं होता, तो गुरु क्या करें, विवेकादि विना बहुत सींचा हुआ अमृतोपदेश को कोई बुन्द भी वहां नहीं ठहरती है ॥ १० ॥ इससे वह शिष्य हुआ न गुरु हुआ, इस से हृदय के कपट भी नहीं जाता है, तिससे आलोपालो (आदि अन्त) में तथा क्षण २ दुःख सहता है। क्यों कि वह पाथर के नाव पर चढा है, देहाभिमानादि से युक्त है उसी से मोह वश सुखादि चाहता है ॥ २० ॥

चक्षु होय तो देखिये, युक्ती जानै सोय।
दो अन्धों को नाचनो, कहो काहि पर मोय ॥ २१ ॥

गुरु सो कीजै जानि के, पानी पीजै छानि।
विना विचारे गुरु करै, पड़ चौरासी खानि ॥ २२ ॥

गुरु तो ऐसा चाहिये, सिष सो कछू न लेय।
सिष तो ऐसा चाहिये, गुरु को सब कुछ देय ॥ २३ ॥

जिसको विवेक चक्षु (नेत्र) हो, सो सुमार्गादि को देखे और शिष्य हो, तथा ज्ञानादि सहित अन्य को समझाने की युक्ति हो तो सोई फिर गुरु भी होता है। इसके विना दो अन्धों के नाचने के समान कौन किस पर मोहित (आसक्त) होगा सो कहो (विचारो समझो) ॥ २१ ॥ सो ज्ञान युक्तियुक्त गुरु समझ कर कीजै, जैसे पानी छान कर पीना धर्मशास्त्र से विहित है। तैसे गुरु विषयक विचार को भी समझना चाहिये, विचारने विना गुरु करने से चौरासी खानि में पडता, सदा दुःख पाता है ॥ २२ ॥ गुरु के लोभ रहित ज्ञान तृप्त होकर परोपकारी होना चाहिये, और शिष्य को भी अनासक्त उदार स्वच्छ हृदय होना चाहिये ॥ २३ ॥

गुरु तुम्हारा कहाँ है, चेला कहाँ रहाय।
क्यों कर तो मिलना भया, क्यों आवै क्यों जाय ॥ २४ ॥

गुरु हमारा गगन में, चेला है चित्त मांय।
शव्द सुरति में मिलन ह्वै, रहै राम लौ लाय ॥ २५ ॥

नादी वादी बहु मिलै, करत कलेजे छेद।
तक्थ तरै का ना मिले, जासों पूछो भेद ॥ २६ ॥

समझो कि तुम्हारा गुरु कहाँ स्थिर हैं, चेला कहां रहता है, और किस प्रकार से गुरु शिष्य का मिलन हुआ है, फिर किस प्रकार से शिष्य आता

जाता है ॥ २४ ॥ जाना कि गुरु चिदाकाश में रहते हैं, शिष्य चित्त में सावधान रहता है, गुरु के शब्द से सुरति (ध्यान) में सदा मिलन होता है, इससे राम में लौ लगाकर (प्रेम भक्ति युक्त होकर) शिष्य स्थिर रहता है, किसी अन्य में नहीं आता जाता है, इसके विना ही आना जाना होता है ॥ २५ ॥ परन्तु ऐसा गुरु शिष्य का मिलन दुर्लभ है । क्योंकि नादी (नादाभ्यासी) और वादी (तर्कपरायण विवादि) बहुत मिलते हैं, जो कि कुतर्क युक्त कटु वचन भेदभावादि से शिष्य के हृदय में छेद (छिद्र-भेद-दुःख) करते हैं । प्रभु का तकूथ (हृदय) तर (पास) के भेदी (मर्मज्ञ) नहीं मिलते हैं कि जिनसे भेद पूछा जाय ॥ २६ ॥

तकूथ तरे की सो कहै, तकूथ तरे का होय ।
मांझ महल की को कहै, वांका पड़दा सोय ॥ २७ ॥

मांझ महल की गुरु कहै, देखा सब घर वार ।
कूंजी दीन्ही हाथ कर, पड़दा दिया उघार ॥ २८ ॥

वांका पड़दा खोलि के, सनमुख लै दीदार ।
वाल सनेही सांइयां, आदि अन्त का यार ॥ २९ ॥

हृदयागतात्मा की बात सोई कह सकता है कि जो हृदय के भेदी हो उसके विना मध्य महल (हृदय) की बात को कौन कह सकता है, क्योंकि सो हृदय बाँका (टेढा-सुन्दर) परदा युक्त है ॥ २७ ॥ जो गुरु सब घर (हृदय) और वार (द्वार) को देखा है, सो गुरु ही मध्य महल की बात को कहते हैं, ओर शिष्य के हाथ में भी कून्जी देकर मानो अपने कर (हाथ) से ही परदा को गुरु ने उघार दिया है ॥ २८ ॥ इससे ऐसा गुरु के मिलने पर बाँका परदा (आवरण) को खोल (नष्ट) करके शिष्य सर्वात्मा राम के सन्मुख दीदार (दर्शन) लेता (पाता) है । जो रामरूप स्वामी बाल्यावस्था के भी सनेही है, आदि अन्त के भी यार (मित्र-परम-प्रिय) आत्मा और ईश्वर है ॥ २९ ॥

कहाँ वुन्द सायर मिली, किहिविधि कौन सनेह।
यह मन में संशय भई, समुझि अरथ कहि देह॥ ३०॥

गगन वुन्द सायर मिली, उत्तम परम सनेह।
मन को संशय दूर करि, समुझि अर्थ यह लेह।' ३१॥
एक समाना सकल में, सकल समाना ताहि।
कविर समाना वूझ में, तहां दूसरा नाहिं॥ ३२॥

ऐसा होते भी यदि मन में यह संशय हुई है, कि कहाँ (किस) का बुन्द (अंश -प्रतिविम्ब या आभास) जीव संसार समुद्र में पड़ कर इसमें मिली है, और किस प्रकार किस स्नेह से मिली है, तो इस अर्थ (संशय) को समझ कर गुरु से कहो (पूछो)॥ ३०॥ गुरु से समझो कि गगन (चिदाकाश) की बुन्द संसार में मिली है, सो संसार में परम उत्तमता आदि की बुद्धि से इसमें अत्यन्त स्नेह करके मिली है, मन के संशय को दूर करके समझ कर इस अर्थ को हृदय में धारण करो॥ ३१॥ क्योंकि एक ही सत्यात्मा जीवादि रूप से सब भूत भौतिक में समाया है, और सब भूतादि उस आत्मा में समाये (कल्पित स्थिर प्रविष्ट) हैं। तहाँ जो उसके बूझ (विवेक विज्ञान) में समाता (स्थिर होता) है, तहां (उस) जीव में दूसरा भाव जन्मादि संसार नहीं होते हैं॥ ३२॥

जिन ढूंढा तिन पाइया, गहिरे पानी पैठ।
मैं वपुरा वूड़न डरा, रहा किनारे बैठ॥ ३३॥

गहिरा पानी में पैठकर खोजनेवाला जैसे समुद्र में रत्न पाता है, तैसे अन्तर्मुख वृत्ति करके खोजने वाला ब्रह्मात्मरत्न पाया, मैं बूड़ने से डरनेवाला (विषय चिन्तादि के त्याग में असमर्थ। पुरुष संसार तट पर योंही बैठा रह गया, यह शिष्य का कथन है॥ ३३॥

इति गुरु शिष्य हेरा का अंग।

अथ हेतु प्रीति का अंग ॥ ६५ ॥

कबिर गुरु बसै बनारसि, सीष समून्दर तीर।
बिसराये [1]नहिं बिसरै, जो गुन होय शरीर ॥ १ ॥
लक्ष कोस जो गुरु बसै, दीजै सुरति पठाय।
शब्द तुरी असवार ह्वै, छिन आवै छिन जाय ॥ २ ॥
स्वामी सेवक एक है, जौं मत मत मिल जाय।
चतुराई रीझै नहीं, रीझै मन के भाय ॥ ३ ॥

ज्ञान से तृप्त सतगुरु यदि बनारस (काशी) में बसते हों, और शिष्य समुद्र तट पर हो अर्थात् गुरु समाधिस्थ मुक्त हों, और शिष्य संसार व्यवहार में हो, तो भी यदि उसके शरीर में गुन (विवेक) रहता है, तो वे गुरु किसी विषयादि द्वारा बिसारने (भुलाने) से भी नहीं भूलते हैं ॥ १ ॥ इससे यदि लक्ष कोश पर भी गुरु बसें, तो सुरति (मनोवृत्ति) को वहां पठा (भेज) देना चाहिये। वह सुरति गुरु शब्द रूप अश्व पर सवार हो कर छिन २ में आ जा सकती है ॥ २ ॥ ऐसा करने से यदि मति में मति मिल जाय तो गुरु शिष्य एक स्वरूप हैं, क्योंकि सर्वात्मा गुरु रूप स्वामी चतुराई से नहीं प्रसन्न होते, किन्तु मन की भावना (भक्ति) से प्रसन्न होते हैं ॥ ३ ॥

अधिक सनेही माछली, दूजा अलप सनेह।
जबही जलते बीछुरै, तबही त्यागै देह ॥ ४ ॥
कबीर ऐसी ना बदों, यह तन याही रीति।
मच्छ मरन्ता जब मरै, तब जानौ जो प्रीति ॥ ५ ॥

जैसे जल से अधिक प्रेमवाली मछली होती है। अन्य जीव अल्प प्रेम वाले होते हैं, इसी से मछली जब ही जल से पृथक् होती है, तभी देह को

[1] बिसरे नहीं। पा० ॥

त्यागती है, और अन्य जीव नहीं त्यागते। मछली तुल्य गुरु प्रेमी सेवक को होना चाहिये ॥ ४ ॥ क्योंकि ऐसी (अन्य जीव तुल्य) प्रीति को ना बदों (नहीं गिनता हूँ), वह प्रीति वस्तुतः प्रीति नहीं है, किन्तु इस मानव तन में आ कर सद्गुरु आदि की भक्ति की यह मछली की ही रीति होनी चाहिये। इससे मच्छमरन्ता (मछली तुल्य) जब गुरुवियोग में मरता है, व्याकुल होता है, तब जाना जाता है कि इसमें सच्ची प्रीति है। ५ ॥

क्या कपटी हाजिर बसै, सज्जन कोस हजार।
जो सागर के पार वस, मानो हृदय मझार ॥ ६ ॥

यह तत वह तत एक है, एक प्राण दुइ गात।
अपने जिय से जानिये, मेरे जिय की बात ॥ ७ ॥

चित चकोर चन्दा बसैं, ज्ञानी के बस ज्ञान।
मूरख महँ हंसा बसै, सोइ हंस परमान ॥ ८ ॥

कपटी के गुरू के हाजिर (पास) में वसने से भी क्या फल है, और सज्जन के हजार कोस पर बसने से भी क्या हानि है। सज्जन यदि समुद्र के पार भी बसता है, तो मानो हृदय में ही रहता है ॥ ६ ॥ यह गुरु का तत्त्व और वह शिष्य का तत्त्व स्वरूप एक है, इससे गात (देह) मात्र दो है, प्राण (आत्मा) एक है, इसलिये अपने जिय (मन) से मेरे जिय की बात जानी जाती है ॥ ७ ॥ जैसे चकोर का चित्त चन्द्र में बसता है, तैसे ज्ञानी का चित्त ज्ञान स्वरूपात्मा में बसता है; इससे मूर्ख में भी ज्ञानी हंस ज्ञान में ही बसता है, मूर्ख के संग में भी अनात्म-परायण नहीं होता है। इसलिये सोई प्रामाणिक हंस है (विवेकी ज्ञानी है) ॥ ८ ॥

हम तुम्हरो सुमिरन करें, तुम मोहिं चितवत नाहिं।
सुमिरन मन की प्रीति है, सो मन तुमही माहिं ॥ ९ ॥

धरती अभरन पहिरिया, आवत सुनिया वाहि।
दादुर मोर पपीहरा, मिले अगाऊ जाहिं ॥ १० ॥

हम शिष्य तुम्हारा (गुरु सत्य प्रभु का) स्मरण करते हैं। तुम यदि मन उपाधि रहित होने से मुझे नहीं चितवते (शोचते देखते) हो, तो भी हे प्रभो! स्मरण तो मन की प्रीति रूप है, सो मेरा मन तेरे पास में है, इसी द्वारा मेरी चिन्ता कर सकते हो ॥ ९ ॥ क्योंकि ज्ञानी गुरु अवतारादि रूप से उस प्रभु को आता हुआ सुन कर धरती (भूमि-स्थूल देह) भी आभरण (भूषण-वेष) पहिरी है, भूषण युक्त के समान शोभती हैं। वर्षा ऋतु रूप से आते हुए को सुनकर दादुर मोर पपीहा आदि भी मिलने के लिये आगे जाते हैं, तथा शरीर के आभरण युक्त होने पर, दादुर (मन) मोर (बुद्धि), और पपीहरा (वाक्) भी ध्यान निश्चय स्तुति द्वारा आगे जाकर जिस प्रभु से मिलते हैं, सो प्रभु मेरे मन से ही मेरी चिन्ता आदि कर सकता है ॥ १० ॥

मेरा मन जो तूझ में, तेरा मन कहूं और।
कहैं कबिर कैसे बनै, एक जीव दो ठौर ॥ ११ ॥

प्रीति जु लागी प्रेम की, पैठि गई मन माहिं।
रोम रोम पिव पिव करै, मुख की हाजत नाहिं ॥ १२ ॥

जो जागत सो सपन में, ज्यों घट भीतर सांस।
जो जन जाको भावता, सो जन ताके पास ॥ १३ ॥

हे प्रभो! मेरा मन जो तुम में गया सो तेरा होकर यदि तुझ में नहीं रहे, किन्तु कहिं अन्य वस्तु में जाय, तो एक जीव को उस मन द्वारा दो स्थान में रहना कैसे बनेगा, इसलिये उस मन को तुम में ही रहना ठीक है ॥ ११ ॥ इस प्रकार जो प्रेम भक्ति की प्रीति जीव को लगी, वह प्रीति मन में पैठ गई (निश्चित हुई) तब वह मन रोम २ में पिव २ करता

है, मुख की जरूरत नहीं रहती है ।। १२ ।। वह मन जो जागते में देखता है, सोई स्वप्न में भी इस प्रकार देखता है कि जैसे घट के भीतर में प्राण को देखता है, लोक में भी जो जन जिसके भावते (प्रेमी) हैं, सो जाग्रत स्वप्न में उसके पास में प्रतीत होते हैं ।। १३ ।।

जल में वसै कुमोदिनी, चन्दा वसै अकास ।
जो जन जाके मन वसै, सो जन ताके पास ।। १४ ।।

एक जोति दो नेत्र है, एक बात दो कान ।
एक प्रीति दो सज्जना, दो घट एकै प्रान ।। १५ ।।

हेतु माहिं पड़दा नहीं, शब्द माहिं नहिं राय ।
[1]समुझे घट का यह मता, बोलै एकै भाय ।। १६ ।।

जैसे जल में कुमुद वसता है, चन्द्र आकाश में वसता है, परन्तु प्रेम से समीपता है । तैसे ही जो जन जिस के मन में वसता है, सो उसके पास में ही है ।। १४ ।। जैसे नेत्र के गोलक दो हैं, परन्तु ज्योति (दर्शनशक्ति) एक ही है, तथा कान दो है, परन्तु बात (शब्द ज्ञान शक्ति) एक है तैसे ही दो सज्जन मे प्रीति रूप मन एकहैं, और दो घट में प्राण एक है ।।१५।। क्योंकि हेतु (प्रीति) में परदा (व्यवधान) नहीं है, और सत्य शब्द में किसी का राय (विचार-सम्मति) की जरूरत नही है, क्योंकि समझवाले अनेको घट (हृदय) का यह मता (निश्चय) है कि वे सब एक भाव (तात्पर्य) से एक भाव (सत्य वस्तु) को बोलते हैं, इससे संशय का अवसर नहीं रहता है, इसलिये राय की आवश्यकता नहीं होती है ।। १६ ।।

कबीर सज्जन हेम जस, टूट मिलैं सौ वार ।
मूरख घट कुम्भार का, एकै धका दरार ।। १७ ।

१ हेत प्रीति तब जानिये । पा० ।।

प्रीति जु तासो कीजिये, आप समाना होय।
कवहूं के अवगुन पड़े, गुन महँ लेय समोय ॥ १८॥

प्रीति जु ऐसी चाहिये, वैर न एको ठाम।
घर घर मीत न कर सकै, एक मीत एक गाम ॥ १९ ॥

सज्जन लोग सुवर्ण तुल्य होते हैं, इससे व्यवहार काल में सैकड़ों वार प्रेमादि से टूट कर मिलते हैं, और मूर्ख कुम्हार का पक्का घट तुल्य होता है, जिससे किसी एक ही विघ्न के आने पर सर्वथा प्रेम रहित होता है ॥ १७ ॥ इसलिये प्रेम उससे करना चाहिये कि जो अपने समान (अपने स्वरुप में प्रविष्ट) हो। इसलिये शिष्य में कभी अवगुण प्राप्त हो, तो उसे अवगुण रहित करके सद्गुण में समाय ले, अपराध की क्षमा करें ॥ १८ ॥ प्रीति ऐसी होनी चाहिये कि जिससे एको स्थान में वैर नहीं रहे, और सब गाम के सब घर में मित्र नहीं बन सके, तो एक ग्राम में एक मित्र अवश्य बनावे। अर्थात् एक सद्गुरु एकात्मा राम को अवश्य मित्र बनावे ॥ १९ ॥

सुख ही में दुख वाढिया, बहुतक बाढी प्रीति।
तिहि धन को सांई मिले, तौ घटये रंग रीति ॥ २० ॥
धनवन्ता अचेत अहै, खसम मिलै क्यों आय।
तिहि धन को सांई मिलै, यह सुख कहा न जाय ॥ २१ ॥

पूरे की पूरी दशा, पूरा ह्वै सो पाय।
कहैं कबिर सुनु साधु हो, पूरा ह्वै सो खाय ॥ २२ ॥

एकात्मा राम की प्रीति विना बहुत प्रीति बढने से सुख में ही दुःख बढा, और दुःख में पडा हुआ उस धन युक्त को भी स्वामी (रक्षक) गुरु ईश्वर कौन मिलता है, अर्थात् कोई नहीं मिलता है। यदि कोई मिले तो भी रंग (प्रेम) की रीति घटती नहीं है ॥ २० ॥ क्योंकि धनवाला अचेत रहता है, तो उससे खसम उचित रीति से कैसे आकर मिल सकता है।

यदि प्रवल कर्म संस्कारादि वश धनवान् भी सचेत हो, और उस धनवान् को भी स्वामी मिले, उचित रीति से प्राप्त हो, तो यह परम सुख वाणी का विषय नहीं हो सकता है ॥ २१ ॥ पूरे गुरु की पूर्ण दशा (अवस्था) को धनी या गरीब जो पूरा शिष्य होता है सो पाता है। इसलिये सद्गुरु का उपदेश है कि पूर्ण शिष्य हो कर श्रवणादि करो, क्योंकि श्रवणादि से जो पूर्ण ज्ञानी होता है सो पूर्णानन्द का अनुभव करता है ॥ २२ ॥

मिलना जग में अनूप है, मिलि विछुरो मति कोय।
विछुरा साजन तव मिलै, जव माथे मनि होय ॥ २३ ॥

जो मीलै सो प्रीतमा, और मिलै सब कोय।
मनसो मनसा ना मिलै, देह मिले क्या होय ॥ २४ ॥

जो दिल दिल ही में रहै, सो दिल दूरि न जाय।
जो दिल दिल सो वाहरे, सो दिल कहां समाय ॥ २५ ॥

सद्गुरु सन्त सत्यात्मा से मिलना जगत में अनुपम पदार्थ है, परन्तु मिलकर सज्जन से कभी विछुड़ना नहीं चाहिये, क्योंकि विछुड़ा हुआ सज्जन फिर तभी मिलता है कि जब माथे में मणि (भाग्य-प्रकाश) होता है ॥ २३ ॥ जो भाग्य वाला को मिलता है, सो प्रियतम आत्मस्वरूप ही मिलता है, और (अन्य) कुछ अन्य सबको मिलता है, क्योंकि सबके मन से सबका मन यदि नहीं मिलता है, मन में प्रेमादि नहीं होता है, तो देह के मिलने से भी कोई फल नहीं होता है ॥ २४ ॥ जो दिल (मन) दूसरे दिल से मिलकर उसीमें स्थिर रहता है, गुरु का दिल के अनुसार साक्षी में ठहरता है, सो दिल फिर दूर संसार में नहीं जाता है। जो दिल दिल से वाहर भटकता है, सो कहाँ समा (स्थिर लीन हो) सकता है, ॥ २५ ॥

जैसी प्रीति कुटुम सो, तैसी हरि सो होय।
कहैं कविर वा दास के, काज न विगरै कोय ॥ २६ ॥

संसारी को जैसी प्रीति कुटुम्ब से होती हैं, तैसी ही प्रीति यदि भक्त को हरि से हो तो उस भक्त का कोई कार्य नहीं बिगड़ता है ॥ २६ ॥

हरि सो तूं जनि हेत कर, कर हरिजन सो हेत।
माल मुल्क हरि देत हैं, हरिजन हरि ही देत ॥ २७ ॥

सोऊँ तो स्वपने मिलै, जागूं तो मन माहिं।
लोचन राता शुभ घरी, बिछुरत कबहु नाहिं ॥ २८ ॥

परन्तु प्रथम तुम हरि से प्रीति नहीं करके हरिजन से प्रीति करो, और समझो कि प्रीति से प्रसन्न होने पर हरि मुल्क (संसार) के माल (सम्पत्ति) देते हैं कि जिससे अज्ञ प्राणी फिर अचेत हो जाता है। हरिजन हरि के यथार्थ अनुभव देकर हरि की प्राप्ति कराते हैं कि जिससे कभी अचेत नहीं होकर मुक्त होता है ॥ २७ ॥ हरिजन से अनुभव मिलने पर सपनावस्था में भी हरि स्वप्ने में मिलते हैं, और जागने पर सदा मन में साक्षी रूप से भासते हैं, नेत्र भी बाहर सच्चिदानन्द हरि में राता (प्रेमयुक्त) रहता है। इससे हरि कभी कहीं भी नहीं बिछुड़ते हैं, सदा सर्वत्र शुभ ही घड़ी (समय) रहता है ॥ २८ ॥

इति हेतु प्रीति का अंग।

अथ शूरता का अंग ॥ ६६ ॥

सूरा सोइ सराहिये, लड़ै धनी के हेत।
पुरजा पुरजा ह्वै पड़ै, तऊ न छाड़े खेत ॥ १ ॥

खेत न छाड़ैं सूरमा, जूझै दो दल माहिं।
आशा जीवन मरन की, मन में राखै नाहिं ॥ २ ॥

कायर हुए न छूटि है, कूचि सुरातन माहिं।
भरम भलाका दूर करि, सुमिरन सेल सनाहि ॥ ३ ॥

जैसे राजपुरुष राजा के लिये लड़ता है, तैसे सर्वात्मा धनी (स्वामी) की प्राप्ति के लिये जो मन इन्द्रियादि से लड़ता है, सोई शूर (धर्म कर्म वीर) सराहने योग्य है। वह पुरजा २ खण्ड २ हो कर रोगादि वश गिर पड़ने पर भी खेत (युद्धस्थान-सिद्धस्थान-लक्ष्य) को नहीं छोड़ता है (पड़े के रहैं) पाठान्तर हैं ॥ १ ॥ शूर खेत (क्षेत्र) को नहीं छोड़ता, विवेक कामादि दोनों दल के मध्य में इन्द्रियादि से युद्ध करते हैं, और जीवन मरण की आशा भयादि मन में नहीं रखते है ॥ २ ॥ क्योंकि कायर होने से छुटकारा (मोक्ष) नहीं हैं, इससे सुरातन (शूर समूह) में कूच (यात्रा) करना ही उचित है। भ्रम रूप शत्रु के भलाका (भाला) को दूर कर के स्मरण रूप सेल (त्रिशूल) को संभारना चाहिये । (भरम भूल को दूर करि, सुमिरन लेहु सनाहि) यह पाठान्तर है। तब सनाह का कवच अर्थ है ॥ ३ ॥

कबीर सोई सूरमा, मन सो मांड़ै जूझ।
पांचों इन्द्रिय पकार के, दूरि करै सब दूझ ॥ ४ ॥

सूरा जूझैं गिरद सो, इक दिश सूर न होय।
युद्ध विहूना सूरमा, भला न कहसी कोय ॥ ५ ॥

कबीर रन में [1]आय के, पीछै रहै न सूर।
साँई के सनमुख [2]रहै, जूझै सदा हजूर ॥ ६ ॥

वस्तुतः वही वीर है, जो मन के साथ युद्ध मांडता (करता) है। सोई पुरुष पांचों इन्द्रिय को वश में करके, सब दूझ (दुःख-ताप-द्वैत दाह) को दूर करता है ॥ ४ ॥ वह वीर गिरद (सब तरफ) से युद्ध करता है, क्योंकि एक दिशा में लड़ने वाला वस्तुतः शूर नहीं होता है, और ऐसा युद्ध से रहित (लोक परलोकादि सर्वमुखी बुद्धि रहित) को कोई भला नहीं कहता है (यों जूझै बिनु बाहरा) यह तृतीय चरण के पाठान्तर है, ऐसा

१ पैठि। पा० ॥ २ भया, रहसी स०। पा० ॥

युद्ध बिना वह वहिर्मुख है ॥ ५ ॥ इस युद्ध में आकर जितेन्द्रिय पुरुष पीछे (अनात्मपरायण-पराधीन) नहीं रहता है। किन्तु स्वतन्त्र सर्वात्मा स्वामी के सनमुख रहता है, और सदा स्वामी की उपस्थिति काल में ही मन से युद्ध करता है, निर्भय रहता है ॥ ६ ॥

गगन दमामा बाजिया, पड़ा निसाने घाव।
खेत पुकारै सूरमा, अब लडने का दाव ॥ ७ ॥
गगन दमामा बाजिया, कल हलिया के कान।
सूरा [1]घना बधावना, कायर तजसी प्राण ॥ ८ ॥
गगन दमामा बाजिया, परा निसाने चोट।
कायर भागै कछु नहीं, सूरा भागै खोट ॥ ९ ॥

साईं के सन्मुख युद्ध से गगन में अनहद नाद रूप दमामा (नगारा) बजने लगा निसाने (लक्ष्य) पर घाव (ध्यान) पड़ा (लगा) या ढोल पर चोट पड़ा, इस अवस्था में क्षेत्र में स्थिर सूर पुकारता है, कि अब लड़ने का दाव (अवसर) है ॥ ७ ॥ गगन में दमामा बाजा जो कल (मधुर ध्वनि) कान के अन्दर हलिया (पैठा) उसे सुनकर शूर को तो घना (बहुत) बधावना (उत्साह) हुआ, परन्तु कायर उसे सुनकर प्राण ही त्यागेगा। (हन हनिया के कान) पाठान्तर है, कान के हनन वधिर करने वाला ॥ ८ ॥ गगन में दमामा बाजने और निसान में चोट परने पर भी यदि कायर (अविवेकी) भागै (अभ्यासादि को त्यागै) तो कोई बात नहीं है, परन्तु विवेकी भागै तो खोट (दोष) है ॥ ९ ॥

सूरा सार सँभारिया, पहिरा सहज सँयोग।
ज्ञान गयंदा चढ़ि चला, खेत परन का योग ॥ १० ॥
मेरे संशय कोइ नहीं, लागा हरि सो हेत।
काम क्रोध सो जूझना, चौड़े मांडा खेत ॥ ११ ॥

---

[1] घरं। पा० ॥

कोने पैठ न छूटिये, सुन रे जीव अवूझ।
कबीर मांड़ मैदान में, कर इन्द्रिय सो जूझ ॥ १२ ॥

सूर (विवेकी) जीव सार (सत्य) शब्द अर्थ को संभारा (समझा) और सहज समाधि नामक सम्यक् योग (ध्यान) रूप कवच पहिरा, फिर ज्ञान रूप गयंद (हाथी) पर चढ कर मोक्ष भवन में चला, अब केवल खेत (देह) पड़ने का ही योग बाकी है ॥ १० ॥ इस प्रकार ज्ञानरूढ मुझ को कोई संशय नहीं रहा, सर्वात्मा हरि से हेत (प्रेम) लग गया, काम क्रोधादि से युद्ध के लिये भी चौड़े (मैदान) में खेत (स्थान) माड़ा (निश्चय किया) है ॥ ११ ॥ घर के कोने में पैठकर (देहाभिमानी होकर) कामादि शत्रुओं से नहीं छूटोगे, रे अविवेकी जीव ! इस बात को श्रवण करो, और मैदान (विभु स्वरूप) में स्थिर होकर कामादि से युद्ध मांडो (ठानो) तथा इन्द्रियों से युद्ध करो । "ओटा लिया न ऊगरै, सुन रे मनुवा बूझ । निकसि रहो मैदान में, कर पांचो से युद्ध ।" यह पाठान्तर है । (ऊगरै-उद्धरै उवरे) ॥ १२ ॥

अब तो ऐसी ह्वै परी, मनुआं निश्चल कीन्ह ।
मरने का भय छाड़ि के, हाथ सिंघोरा लीन्ह ॥ १३ ॥

कायर बहुत पमोवई, अधिक न बोलै सूर ।
सेल झमक्के जानिये, जाके मुहड़े नूर ॥ १४ ॥

ज्यों ज्यों हरि गुन संभलै, त्यों त्यों लागै तीर ।
लागै ते भागै नहीं, सोइ सन्त मति धीर ॥ १५ ॥

मैदान में युद्ध मांडने पर अब तो ऐसी बात ह्वै पड़ी कि मन को निश्चल किया, और मरने का भय को त्याग कर मानो बुद्धि भी सती होने के लिये हाथ में सिंधोरा ले लिया (आत्मा में लय के लिये उन्मुख हो गई) ॥ १३ ॥ अविवेकी बहुत प्रमाद प्रलाप करता है, विवेकी अधिक नहीं बोलता, परन्तु

सेलादि अस्त्र शस्त्र के झमकने (चलने) पर जाना जा सकता है, कि जिसके मुखमें उस समय भी नूर (प्रकाश-तेज) रहता है, सो सच्चा सूर है, तैसे सदा चिन्ता रहित ज्ञानी है। "सार खलक के जानिये, किहि के मुहड़े नूर" यह पाठान्तर है। ससारी को सार (लोहा) तुल्य जानो, काला समझो ॥ १४ ॥ संसारी भी ज्यों २ हरि के गुन को संभालता है, त्यों २ संसार कालिमा के किनारे लगता है। या तीर (बान) लगता है। तीर लगने पर फिर संसार में नहीं भागता, सोई धीर बुद्धिवाला सन्त होता है। "लागे पन भागै नहीं, सोई साधु सुधीर" यह पाठान्तर है ॥ १५ ॥

जिन जस हरिगुन संभलो, ताको तैसा तीर।
सांठी सांठी झरि पडी, भलका रहा शरीर ॥ १६ ॥

ऊंचा तरुवर गगन फल, [1]पंखी मूआ झूर।
वहुत सयाने पचि गये, फल निर्मल पै दूर ॥ १७ ॥

जिन लोगों ने जिस प्रकार ससंग असंगादि समझ कर हरि गुन को सभाला, तिनको तैसा ही तीर (तट मोक्ष) मिला, या तैसा ही उपदेश रूप बाण लगा, और सांठी २ शब्दादि रूप विस्तार असार झर कर गिर गया, बाहर रह गया, परन्तु भलका (भाला-संभार के अनुसार निश्चय) शरीर में रह गया (ज्यों ज्यों गुरुजन संभालौं) इस प्रकार दोनों साखी के पाठान्तर हैं ॥ १६ ॥ यह मानव देह और संसार बहुत ऊंचा वृक्ष है, इसके गगन (ऊर्ध्व भाग) में तथा चिदाकाश में आनन्दादि रूप फल वर्तमान हैं। परन्तु अज्ञ जीव रूप पक्षी झूर (तृषार्त) होकर मरता है, हरिगुणादि को संभालने विना वहुत चतुर भी उस फल के लिये पच मरे, परन्तु नहीं पाये, क्योंकि वह फल निर्मल है, और सर्व साधारण के लिये है, परन्तु दूर है 'एक दूरि चाहै सब कोई' इत्यादि बीजक शब्द में है ॥ १७ ॥

1 पंथी । पा० ॥

दूर भया तो क्या भया, [1]सिर दिय नियरा होय ।
जब लगि सिर सौपै नहीं, तब लगि सिद्ध न होय ॥ १८ ॥

कहि दरबारी बातरी, क्यों पावै वह धाम ।
सीस उतारैं संचरै, नहीं और का काम ॥ १९ ।

सूरा सीस उतारीया, छाड़ी तन की आस ।
आगे सो हरि हर्षिया, आवत देखा दास ॥ २० ॥

दूर होने से कोई दोष नहीं है, शिर देने (अभिमान छोड़ने) से समीप हो जाता है, शिर सौपने बिना सिद्ध (मुक्त) नहीं होता "नाख सकै नहिं कोय" यह चतुर्थपाद का पाठान्तर है ॥ १८ ॥ दरबारी (हृदय महल की) बातरी (कथा) महात्माओंने कही है कि वह धाम किस प्रकार पाया जाता है कि जब शिर उतारै तब वहां संचार (प्रवेश) करता है, अन्य का वहां काम नहीं है ॥ १९ ॥ जो सूर (विवेकी) अभिमान को त्यागा, सो तन की आशा को छोड़कर मानो शिर उतार डारा, उसे स्वस्वरूप में आते हुए देखकर सर्वात्मा हरि गुरु आगे (प्रथम) से ही परम हर्ष को प्राप्त हुए ॥ २० ॥

सीतलता संयोग ले, सूर चढै संग्राम ।
अबकी [2]भाजन पड़त है, शिर साहब के काम ॥ २१ ।
धड़ से शीस उतारि के, डारि देय ज्यों ढेल ।
कोइ सूर को सोहसी, घर जाने का खेल ॥ २२ ॥
सूरा को तो शिर नहीं, दाता को धन नाहि ।
पतिवरता को तन नहीं, जीव बसै पिव माहि ॥ २३ ॥

संतोष क्षमा शान्ति का संयोग (संग्रह) ले कर विवेकी संग्राम (युद्ध) में चढता है, क्योंकि अबकी बार (मनुष्य जन्म में) ही भाजन (देहरूप

---

१ सतगुरु मेला सोय । शिर सौंपे उन चरन में, कारज सिद्धो होय ॥ पा०॥
२ अबकी भाजन अबकी बेर, यह टिप्पण है ।

पात्र) और शिर साहब के काम (प्रयोजन) में अड़ता (आता) है (सरत है) पाठान्तर है ॥ २१ ॥ अभिमान को त्याग कर तुच्छ वस्तु तुल्य जो उसे डार देता है, ऐसे किसी सूर को हृदय महल में जाने का खेल (लीला) भी शोभेगा ॥ २२ ॥ ऐसे सूर को शिर का भय अभिमान नहीं रहता, सच्चा दानी को धन का मोह अभिमान नहीं रहता है। पतिव्रता सती को देह के होश अभिमानादि नहीं रहता है, क्योंकि उसके जीव (मन) प्रिय पति में बसता है, ज्ञानी भक्त ब्रह्म ईश्वर निष्ठ रहते हैं। "दाता के तो धन घना, शूरा के शिर बीस। पतिव्रता के तन सही, पत राखें जगदीश ॥" यह साखी है ॥ २३ ॥

सीस खिसै सांईं लखै, भल वांका असवार।
कमद कबीरा किल किया, केता किया सुमार ॥ २४ ॥

भक्ति दुहेली राम की, नहिं कायर का काम।
सीस उतारै हाथ सो, सो लेसी हरि नाम ॥ २५ ॥

भक्ति दूहेलो राम की, जस खांडे की धार।
जो डोलै सो कटि परै, निश्चल उतरै पार ॥ २६ ॥

अभिमान छूटै तो सर्वात्मा स्वामी को देखै, तथा स्वामी को देखे तो सर्वथा अभिमान छूटै, इसलिये भला (योग्य) वांका (सुन्दर-चतुर) मन इन्द्रिय पर असवार रूप शूर होना चाहिये कि, जिस कबीरा (जीव) के कमद (अभिमान रूप शिर रहित धड़) किलकार (आनन्द का शब्द) करे, और कितने कामादि शत्रुओं का सुमार (गिनती पूर्वक नाश) किया करे ॥ २४ ॥ अभिमानादि त्यागे बिना ऐसी राम की भक्ति दुहेली (कठिन) है। इसमें कायर का काम नहीं है, हाथ (निरन्तर विचारादि) से अभिमानादि को त्यागे, सो भक्ति करेगा ॥ २५ ॥ खांडा (तरवार) डोलै (संशय अभिमादि करै) सो भक्ति से च्युत होय, दृढ विश्वासादि वाला पूर्ण भक्त मुक्त होय ॥ २६ ॥

भक्ति दुहेली राम की, जैसे अग्नि की झार।
डाग पडा तो ऊबरा, दाझे कौतुक हार॥ २७॥

कबीर घोडा प्रेम का, चेतन चढि असवार।
ज्ञान खडग ले काल शिर, भली मचाई मार॥ २८॥

चित चेतन ताजी करो, लव का करो लगाम।
शब्द गुरू का ताजना, पहुँचे सन्त सुजान॥ २९॥

अग्नि की झार (लपट) के समान राम की भक्ति कठिन है। यदि इस में प्रेम से डाग (पैर मन) पडा तो उबरा, और प्रेम बिना कौतुक देखने वाला दग्ध हुआ, या प्रेम डाग (जलाशय) में पड़ा तो उबरा॥ २७॥ प्रेम के घोड़ा पर सचेत जीव असवार रूप से चढ कर, तथा ज्ञान खड्ग को लेकर काल के शिर पर भली मार मचाता है॥ २८॥ चित्त को चेतन (सावधान) करके ताजी घोड़ा करा, और लव (ध्यान) का लगाम करो, फिर गुरु का शब्द को ताजना (चाबुक) बना कर सुजान सन्त अपने स्थान पर पहुँचते हैं (सुजान के सुठाम) पाठान्तर है॥ २६॥

कबीर तुरी पलानिया, चाबुक लीन्हा हाथ।
दिवस थका साईं मिले, पीछे पड़सी रात॥ ३०॥

हरि घोड़ा ब्रह्मा कड़ी, बासक पीठ पलान।
चान्द सूर्य दोउ पायड़ा, चढ़सी सन्त सुजान॥ ३१॥

जीव जब गुरु के शब्द रूप चाबुक को हाथ में लिया (धारण निश्चय किया) तब प्रेम रूप तुरी (घोड़ी) स्वामी के तरफ पलानिया (भग चली) फिर दिवस थका (ज्ञान की अन्तिम अवस्था आई) और सर्वात्मा स्वामी सन्मुख मिल गये। जो स्वामी से पीछे रहा, वह अज्ञान रात्रि में पडेगा। तथा दिवसान्त रूप मरण काल तक युद्ध में थकने वाले स्वामी से मिले, युद्ध बिना तो पीछे रात्रि में प्राप्त होंगे॥ ३०॥ इस युद्ध में हरि (सात्विक

प्रेम) घोड़ा होता है। ब्रह्म (राजस दानादि प्राणायाम तपःस्वाऽध्यायादि कर्म) कड़ी (जंजीर) होता है, और वासक (वासुकि-सर्पराज-तथा [1]अनन्त शेष, और स्थिति [2]युक्त विरक्त के चिन्तन संगादि) को उस घोड़ा की पीठ के पलान (जीन) करते हैं, चान्द सूर्य नाड़ी की दो पायडा (रिकाब) बनाकर सुजान सन्त उस पर चढते हैं ॥ ३१ ॥

कबीर हीरा बनिजिया, महगें मोल अपार।
हाड गली माटी मिला, सिर साटे व्यवहार ॥ ३२ ॥

लालच क्षोभ न मोह मद, एकल भला अनीह।
हरि जन ऐसा चाहिये, जैसा वन का सिंह ॥ ३३ ॥

जेता तारा रैंन का तेता वैरी मुझ्झ।
धड़ सूला सिर कंगुरे, तउ न विसारूं तुझ्झ ॥ ३४ ॥

उक्त स्वामी रूप हीरा की बर्नाजी (व्यापार) किया गया है, जो हीरा महगें हैं, जिसका अपार मोल है उसका मोल रूप प्रेम ज्ञानादि के लिये हाड गलाकर माटी में मिलाना पड़ा, और शिर के बदले व्यवहार किया गया हैं, सर्वाभिमान त्यागा गया है ॥ ६४ ॥ उस हरिजन में लोभ, चांचल्य, मोह, मद नहीं होना चाहिये। अनीह (निरिच्छ) होना चाहिये और ऐसा एकल भला (एकाकी शुभ होना चाहिये कि जैसा वन का सिंह हो ॥ ३३ ॥ हरिजन का निश्चय है कि यद्यपि जितने रात के तारे हैं, उतने (अनन्त) कामादि मेरे वैरी हैं, उनके द्वारा यदि मेरा धड़ सूली पर चढाया जाय, और शिर कंगुरे (कोटादि के शिखर) पर फेंक दिया जाय तौभी मैं तुझको नहीं भूलूंगा ॥ ३४ ॥

चौपड मांडी चौहटे, अरध उरध बाजार।
कबिरा खेलै [3]नाम सों, कबहुं न आवे हार ॥ ३५ ॥

---

१ प्रयत्नशैथिल्याऽनन्तसमापत्तिभ्याम् । योगसू० २ । ४७ ॥
२ वीतरागविषयं वा चित्तम् । योगसू० १ । ३७ ॥ ३ राम । पा० ॥

जौं [1]हारौं तो सेव हरि, जो जीतौं तो दाव।
पार ब्रह्म सो खेलता, सिर जावै तो जाव॥ ३६ ।

टूटै बरत अकाश सो, कौन सकत है झेल।
साधु सती अरु शूर का, आनी ऊपर खेल॥ ३७॥

हृदय सत्सङ्गादि रूप चौहटे में नीचे ऊपर के संसार में ज्ञान ध्यानादि का चौपड़, खेलना ठाना है, कि जहाँ जीव नाम द्वारा खेलता है कि जिस खेल में कभी हार नहीं आता है॥ ३५॥ यदि कभी हारता भी है तो फिर भक्ति करता है, और जीतता है तो दाव (मोक्ष) पूरा होता है। इससे पार ब्रह्म से खेलते में यदि शिर भी जाय तो भला ही है। उसे जाने देना चाहिये॥ ३६॥ आकाश से वरते (प्रकाशते) हुए तारे ग्रह यदि टूटै, तो उन्हें झेल (रोक) कौन सकता है, ऐसा ही साधु सती और सूर का खेल (व्यवहार) आनी (वरछी का नौक) के ऊपर का प्रकाश हैं। उसे दूसरा कौन झेल सकता है। अथवा नट के आकाश का वरत (वांस का रस्सा) टूटे, तो उसे कौन झेल (रोक) सकता है॥ ३७॥

प्रगट राम कहँ छानये, राम नाम कहँ घाय।
फूसक घोड़ा दूर कर, वहुरि न लागै लाय॥ ३८॥

आप स्वारथी मेदनी, भक्ति स्वारथी दास।
कवीरा नाम स्वारथी, डारी तन की आस॥ ३९॥

सांईं सेंति न पाइये, वात मिलै न कोय।
कविरा सौदा नाम का, शिर विनु कवहु न होय॥ ४०॥

साधु राम को प्रकट छानता (खोजता करता) है, और रामनाम काही ध्यान करता है। फूस (घास) के घोड़ा तुल्य देह को दूर करता है. इसका अभिमान नहीं करता है, इसीसे फिर लाय (अग्नि ताप) नहीं लगता है

१ हारौं तो हरि मान है। पा०॥

॥ ३८ ॥ क्योंकि पृथ्वी आप (जल) के स्वार्थी (इच्छुक) हैं, और दास (भक्त) भक्ति के स्वार्थी है, तैसे ही जो जीव रामनाम के स्वार्थी हैं, सो देह की आशा को त्याग दिया है ॥ ३९ ॥ क्योंकि रामस्वरूप स्वामी सेति (सहज) में नहीं पाया जाता है। बातों से वह किसी को नहीं मिलता है, हे जीव ! नाम का सौदा शिर सौंपने (अभिमान त्यागने) बिना कभी नही होता है ॥ ४० ॥

भागे भली न होयगी, कहाँ धरोगे पांव।
सिर सौंपो सीधे लड़ो, काहे करो कुदाव ॥ ४१ ॥
भागे भली न होयगी, मुंह मोड़े घर दूर।
साईं आगे सीस दे, शोच न कीजे सूर ।। ४२ ॥
सूरा सनमुख वाहता, कोइ न बांधै धीर।
पर दल मोरन रन अटल, ऐसा दास कबीर ॥ ४३ ॥

शिर न सौंप कर कहीं भागने से भी भली बात (कल्याण) नही होगी, राम से विमुख होने पर पाँव धरने का भी कहाँ जगह है, इसलिये शिर सौंप कर सीधा (कपटादि रहित) लड़ो (सत्संग विचारादि करो), कुदाव क्यों करते हो, कायरता अकर्मण्यता छोड़ो ॥ ४१ ॥ भागने से भली बात नहीं होगी, विचारादि से मुख (मन) को मोड़ने (हटाने) पर सत्य स्वरूप घर दूर हो जायगा, इसलिये हे सूर ! स्वामी के आगे शिर को अर्पण करो, और शोच (चिन्ता) नहीं करो ॥ ४२ ॥ सूर (जितेन्द्रिय) पुरुष कामादि शत्रु पर, सनमुख तीर तरवार रूप विवेक विज्ञानादि को वाहता (चलाता-प्रहार करता) है। जिससे उसके सामने मोह मदादि कोई शत्रु धैर्य नहीं बांध (धर) सकते, क्योंकि (शत्रु) का दल को मोरना (हटाना) और रन में अटल रहना, ऐसा स्वभाव ही दास का होता है ॥ ४३ ॥

सूर सनाह न पहिरई, मरता नहीं डराय।
कायर भागा पीठ दे, सूर मुँहामुँह खाय ॥ ४४ ॥

कवीर हरि सव को भजै, हरि को भजै न कोय ।
जव लो आश शरीर की, तव लग दास न होय ।' ४५ ॥

भक्ति दुहेली राम की, कठिन खेल वल काम ।
निस्प्रेही निरधार को, आठ पहर संग्राम ॥ ४६ ॥

सूर (विवेकी) काल कामादि से बचने के लिये सनाह (कवच) नहीं पहिरता (देहाभिमानी नहीं होता) है, कायर कवच पहिर कर ही पीठ देकर भागता है, और सूर तो मुहांमुंह (सनमुख) ही कालादि को खा जाता है ॥ ४४ ॥ "ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् । भ० गी० अ० ४।११ इत्यादि वचनों के अनुसार हरि सवको भजते हैं, परन्तु कवच रहित होकर कोई हरि को नहीं भजता है, इससे देह की भी आशा जब तक है, तब तक भक्त नहीं होने पाता है ॥ ४५ ॥ राम की उक्त भक्ति कठिन है. और उस भक्ति में कठिन (अत्यन्त) वल के काम (जरूरत) है "नायमात्मा वलहीनेन लभ्यः । मुण्डक २ । २ ४ " इत्यादि श्रुति बचन है । उस में निस्पृहता, निश्चय विश्वास, निरन्तर संग्राम रूप बल चाहिये ॥ ४६ ॥

योग बुरा जौहर भला, घडी एक का काम ।
आठ पहरका जूझना, विनु खांडे संग्राम ॥ ४७ ॥

खांडा तिस को वाहिये. जो फिर खांडा देइ ।
कायर को क्या वाहिये, दांत तीनुका लेइ ॥ ४८ ॥

योग बुरा जौहर भला, एक घड़ी का दूख ।
अति तन को लोहू करै, विरह लागि मन ऊख ॥ ४९ ॥

इससे यह भक्ति योग बुरा (कठिन) है, और जौहर (पति के साथ जलना) योग से प्राण त्यागना भला (सुगम) है, क्योंकि उस में एक घड़ी का काम (कष्ट) है । यहाँ तो विना तरवार के संग्राम में आठ पहर का

युद्ध करना है, यहां निन्दा मुख स्तुति है ॥ ४७ ॥ क्योंकि तरवार उसके ऊपर चलाना चाहिए कि जो फिर अपने पर भी तरवार चला सकता हो, और स्वयं डर से दाँतों में तृण पकड़ने वाला कायर पर तो क्या तरवार चलाया जाय, यह धर्म शास्त्र से निषिद्ध है, अर्थात् सदा सावधान भक्त से काल कामादि स्वयं भयभीत हो जाते हैं, फिर दुःख क्या है ॥ ४८ ॥ यह भक्ति योग तन को अति लोहु (खून मय-रक्त-लाल) करता है। विरहाग्नि लगने से मन में भी ऊष्मा (तेज गरमी) आ जाती है ॥ ४९ ॥

तीर तुपक वरछी वहै, विनशि जायगा चाम।
सुरा के मैदान में, क्या कायर का काम ॥ ५० ॥

सूरा के मैदान में, क्या कायर का काम।
सूरा को सूरा मिले, तव पूरा संग्राम ॥ ५१ ॥

सूर[1] चला संग्राम को, कवहुं न[2] देवै पीठ।
आगे [3]चलि पाछे फिरे, ताको मुख नहिं दीठ ॥ ५२ ॥

साधु सती औ सूर को, ज्यों लंघन त्यों शोभ।
सिंह न मारै मेढका, साधु न बांधे लोभ। ५३ ॥

तीरादि के चलने (रोगादि होने) से चाममय देह नष्ट होगा, आत्मा नहीं, ऐसी दृष्टि वाला सूर के मैदान में कायर का कोई काम नहीं है ॥ ५० ॥ सूर (विवेकी शिष्य) को सूर (ज्ञानी जितेन्द्रिय) गुरु मिलें, तो पूर्ण विचारादि होते हैं ॥ ५१ ॥ जो सूर संग्राम को चला, सो कभी लौटता नहीं, जो आगे चलकर भी संसार विषयादि में फसता अधर्मी होता है उसका मुख नहीं देखना चाहिये, उसे मुख्यात्मा का दर्शन नहीं होता है ॥ ५२ ॥ साधु सती ओर वीर को ज्यों २ लंघन (उपवास भोग का अभाव

---

१ साधु सती और शूरमा ॥ पा० ॥ २ न फेरे। पा० ३ तीनौं निकसि जु बाहुरे। पा० ॥

तुल्य वल शूर की अप्राप्ति) होता है, त्यौंत्यौं शोभा तेज बढता है। शूर तुच्छ पर आक्रमण नहीं करता है, क्योंकि सिंह मेढक को नहीं मारता, और लंघन होने पर भी साधु लोभ से कुछ नहीं वांधता है ॥ ५३ ॥

साधु सती औ सूरमा, ज्ञानी औ गज दन्त।
एते निकसि न बाहुरे, जो युग जाय अनन्त ॥ ५४ ॥
आगि आंच सहना सुगम, सुगम खड्ग की धार।
नेह निवाहन एक रस, महा कठिन व्यवहार ॥ ५५ ॥
नेह निवाहे ही बने, शोचे बनै न आन।
तन दे मन दे शीस दे, नेह न दीजें जान ॥ ५६ ॥
भाव भाल्का सुरति सर, धर धीरज कर तान।
मन की मूठ जहां मुड़ी, चोट तहाँ ही जान ॥ ५७ ॥

एते (ये सब) निकसि (अपने मार्ग स्थान में चल) कर नहीं लौटते हैं, चाहे अनन्त युग भी वीत जाय ॥ ५४ ॥ नेह (प्रेम भक्ति) ॥ ५५ ॥ प्रेम भक्ति एक रस निवाहने से ही कार्य सिद्ध होता है, अन्य वात शोचने से नहीं वनता, इसलिये तन मन आदि को जाने देना चाहिये, परन्तु भक्ति को नहीं जाने देना चाहिये ॥ ५६ ॥ उस भक्ति की प्राप्ति के लिये, भाव (प्रेमादि) रूप भालका (धनुष-भाला) और सूरत (ध्यान) रूप तीर को कर (मन) में तान कर धीरज धरो, फिर मन की मूठ (भाव) जहां मुड़ी लगी तहां ही चोट, (स्थिति) जानो ॥ ५७ ॥

सूरा लड़ै कमन्द ह्वै, धड़ सो सीस उतार।
कहैं कबिर मारा मुआ, कहै जु मार हि मार ॥ ५८ ॥
विना पांव का पंथ है, मांझ सहर अस्थान।
विषम वाट औघट घना, पहुँचे सन्त सुजान ॥ ५९ ॥
पंच असमाना जब लिया, तब रन घसिया सूर।
दिल सौंपा शिर उवरा, मुजरा राम हजूर ॥ ६० ॥

धड़ से शिर को उतार कर कमन्द (कबन्ध) हो कर शूर लड़ता है, और अभिमान त्याग से मारा मुआ होते हुए भी अन्य को अभिमानादि का त्याग के लिये उपदेश देता हुआ मार २ कहता है। ५८ ॥ जिस मांझ सहर हृदय स्थान के पन्थ बिना पांव की प्राप्ति के योग्य है, जहां के विषम माग और बहुत अवघट है, तहां वह सुजान सन्त पहुँचता है ॥ ५८ ॥ जैसे अस्त्र, शस्त्र, मित्र, बल, कोश, पांच समान (साधन) को ले कर राजा रन में पैठता है, तैसे सन्त भी प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा, स्मृति, रूप अक्लिष्ट वृत्ति, पंच प्राण और इन्द्रियादि को जब लिया (स्ववश कीया) तब रण में पैठा, हरि को दिल सौंपा जिससे शिर ऊबरा (कल्याण हुआ) और सब का राम के हजूर में मुजरा हुआ ॥ ६० ॥

रन धसिया सो ऊबरा, [1]आया गिरह निवास।
घरे वधावा वाजिया, और[2] न दूजी आस ॥ ६१ ॥

जब लग धर पर सीस है, सूर कहावै सोय।
माथा टूटे धड़ लड़ै, कवंध कहावै सोय ॥ ६२ ॥

खेल मँडा खेलार सो, आनन्द बढ़ा अघाय।
अब पासा काहू परौ, प्रेम बँधा युग जाय ॥ ६३ ॥

कामादि के रन में धसने वाला नाश से बचा, उसका गृह (हृदय) में निवास स्थान आया (मिला) और उसके घर मे वधावा (उत्सव के बाजा रूप अनहद) बाजने लगा, दूसरी आशा न रही ॥ ६१ ॥ घर पर शिर के अभिमान रहते भी वह रन में धसने वाला सूर कहाता ही है, परन्तु शिर आदि के अभिमान को नष्ट करने पर वह कबन्ध (कं सुख स्वरूप को वश प्राप्त करने वाला) कहाता है ॥ ६२ ॥ क्योंकि वह खेलार (चतुर) सद्-गुरु सन्त से खेल (विचार) मंडा (ठाना) है, कि जिससे अघाय (पूर्ण

१ आगे पाया। पा० ॥ २ औ जीवन को आस ॥ पा० ॥

हो) कर आनन्द वढा है अब अन्य भी किसी को इस आनन्द खेल का पासा पड़े उसका तो उसी प्रेम में मन के बंधाये रहते में युग (समय) जाता है ।। ६३ ॥

सूर न सेरी ताकई, नेजा घालै घाव।
सब दल पाछा मोड़ि के, मांझी सेती चाव ॥ ६४ ॥

सूरा तो सांचै मते, सहै जु सन्मुख धार।
कायर अनी चुभाय के, पीछें झखै अपार ॥ ६५ ॥

ढोल दमामा गुडगुडी, सहनाई औ तूर।
तीनो निकसी न वाहुरे, साधु सती औ सूर ॥ ६६ ॥

ये तीनो भागे वुरा, साहवजी[1] की सौंह।
साधु सती औ सूर का, दैव न मोरै भौंह[2] ॥ ६७ ॥

सूरा सेरी (गली) नहीं देखता है, किन्तु सन्मुख नेजा (वरछी) चालता (चलाता) है। सब दल को पीछे मोर कर मध्य में रहने से चाव (प्रेम) रखता है ॥ ६४ ॥ सूर मध्य हृदय में सत्य मत के विचार में सन्मुख धार (तर्कादि) को सहता है, कायर अनी (भाला मन) को कुछ चुभा (लगा) कर भी पीछे बहुत चिन्ता करता है ॥ ६५ ॥ ढोलादि वाजने पर भी साधु आदि डर कर नहीं लौटते हैं ॥ ६६ ॥ साहवजी की सौंह (सपथा) है कि इनका भागना बुरा है इससे दैव भी इनके भौंह (दृष्टि-भ्रकुटी कोन) मोरै इनकी लज्जा रखे ॥ ६७ ॥

देखा देखी सब चले, वाना पहिरि अनेक।
साहव अपने कारने, जूझैगा कोइ एक ॥ ६८ ॥

कायर को कौतुक घना, काहे कसै सनाह।
भीर परै भगि जायगा, जीवन का है लाह ॥ ६९ ॥

---

१ साहव जी जाकी सूँह। पा० ॥ सूह सन्मुख ॥ २ मुँह। पा० ॥

चौडा महँ आनन्द है, नाम धरा रन जीत।
साहब सेती मिल गया, अन्तर गत की प्रीति ॥ ७० ॥

साधु सती औ सूरमा, इन पटतर कोई नाहि।
अगम पन्थ को पग धरै, डिगै त [1]कहां समाहि ॥ ७१ ॥

बाना (वेष) पहिर कर अनेक चले हैं, परन्तु अपने साहब के लिये कोई एक युद्ध करेगा ॥ ६८ ॥ कायर को कौतुक ही देखना घना (बहुत) फल है, घना के भला पाठान्तर है, मीर परने पर भागेगा कि जिससे जीवन का लाभ है ॥ ६९ ॥ चौड़ा (युद्ध के मैदान) में सूर को आनन्द है, जिसका रण जीत नाम धरा गया है, सो अन्तर गत प्रेम के कारण साहब से भी मिल गया ॥ ७० ॥ इनके पटतर (तुल्य-उपमा) कोई नहीं है. ये अगम मार्ग से पैर धरते हैं, परन्तु डिगने (गिरने) पर कहां समाते हैं सो पता नहीं। इस प्रसंग में साखी है कि "सती डिगै तो नीच घर, शूर डिगै तो कूर। साधु डिगै तो शिखर ते, ह्वै चरणों की धूर ॥ ७१ ॥"

साधु सती औ सूरमा, इन की बात अगाध।
आशा छोडै देह की, तिन में अधिका साध ॥ ७२ ॥

सूर सनाह न पहिरई, जब रन बाजा तूर।
माथा काटै धर लरे, तब जानीजै सूर ॥ ७३ ॥

मोती नीपजै सीप में, सीप समुन्दर माहिं।
कोइ इक बंदा काढसी, कायर की गति नाहि ॥ ७४ ॥

साधु आदि की कथा व्यवहार अगाध है कि जिन्होंने देह की आशा छोडि है, तिन में भी साधु श्रेष्ठ हैं ॥ ७२ ॥ सूर (वीर-विवेकी) सनाह (कवच-देहाभिमान) को नहीं धारण करता है, कि जब रन (युद्ध-सत्संग-विचार-ध्यान) में तूर (बाजा-उपदेश-नाद) बाजता है । फलादि के अभि-

---

१ ठाहर नाहि । पा० ॥

मान इच्छा को त्याग कर देह से कर्म व्यवहार करता है, तभी उसे सूर समझो ॥ ७३ ॥ मोती (मोक्ष-ज्ञान-विज्ञान) सीप (मानव देह) में सिद्ध होता है, सो देह संसार समुद्र में है, तहां "तं स्वाच्छरीरात्प्रवृहेत्" उस आत्मा को अपने देह से पृथक् करे, इस कठ श्रुति के कथनानुसार उस मोती को कोई एक वीर भक्त काढता है, कायर की वहां गति नहीं है ॥ ७४ ॥

कायर का घर फूस का, भभकी चहूं पछीत।
सुरा को कछु डर नहीं, गज गीरी की भीत ॥ ७५ ॥

शीर काटि धरनी धरै, रुंड लडाई लेय।
कहैं कविर तिहि दास को, गुरु बताय जो देय ॥ ७६ ॥

घायल तो घूमत फिरै, राखा रहै न ओट।
यतन किया[1] जीवै नहीं, लगी मरम की चोट ॥ ७७ ॥

कायर (अज्ञ) का घर फूस (पांचभूत) का है, जो पीछे चारो तरफ से भभक (जल) जाता है, सूरा (ज्ञानी) को कुछ भय नहीं है, क्योंकि उसको गीरी (सूक्ष्म पाषाण-आत्मा) की ही भीत (दिवाल) और गज (गच-छत) है, जो कि अग्नि से जल नहीं सकती ॥ ७५ ॥ वह विवेकी देहादि के अभिमान धर्मादि को त्याग देता है, तो भी शरीर से कर्मोपासना परोपकारादि करता है, ऐसे दास को जो सद्गुरु ज्ञान विज्ञानादि बताये (उपदेश से समझाये) हैं, सो सद्गुरु फिर उसे ज्ञानादि साक्षात् दे देते हैं ॥ ७६ ॥ वह घायल (विवेकी) प्रत्यक्ष ज्ञानादि के लिये सेवा भक्ति सत्संगादि में घूमता फिरता है, अविद्यादि के ओट में किसी के रखने से भी नहीं रह सकता है। यत्न करने पर भी देहाभिमानी रूप से नहीं जीता, क्योंकि मर्म की चोट (शब्द) उसे लगी है ॥ ७७ ॥

---

१ किये नहिं बाहुरे। पा० ॥

घायल की गति और है, औरन की गति और।
प्रेम बान हिरदै लगा, रहा कबीरा ठौर ॥ ७८ ॥

सार वहै लोहा झरैं, टूटै जिरह जँजीर।
[1]यम ऊपर साटै करी, चढ़िया दास कबीर ॥ ७९ ॥

सूरा नाम धराय के, अब क्यों डरपै वीर।
मांडि रहा मैदान मैं, सनमुख सहना तीर ॥ ८० ॥

जूझैंगा तब कहैंगें, अब कछु कहा न जाय।
भीड पड़े मन मसखरा, लड़ै किधौं भगि जाय ॥ ८१ ॥

घायल (विवेकी) कबीरा (जिव) प्रेम बनाने के हृदय में लगाने से अपने स्थान में ही रहा ॥ ७८ ॥ क्योंकि जैसे युद्ध में सार (लोह) मय अस्त्र शस्त्रों के वहने (चलने) से टकरा कर लोहा झरते हैं, जंजीर (कवचादि) टूटते हैं, तैसे विवेक की धारा वासना नष्ट होती है, यम के जिरह (प्रश्न) तथा तर्कादि रूप जंजीर, सब बन्धन मोह टूटते हैं, इस प्रकार यम के ऊपर भी साटा (शक्ति-प्रतिज्ञा) करके दास जीव अपने ठौर में चढ गया ॥ ७९ ॥ फिर सूर नाम धरा कर वह वीर यमादि से कैसे डर सकता है, वह तो मैदान में युद्ध मांड रहा है, और उसे सन्मुख ज्ञानादि तीर सहना है ॥ ८० ॥ इस प्रकार युद्ध करेगा, तब उसकी स्तुति होगी, अभी नहीं मन मसखरा (मनमुखी) भाजै की ठहराय, यह चतुर्थ चरण के पाठान्तर है ॥ ८१ ॥

तीर तुपक सो जो लड़ै, सो तो सूरा नाहिं।
सूरा सोइ सराहिये, बाँटि बांटि धन खाहि ॥ ८२ ॥

सूरा सोइ सराहिये, अंग न पहिरैं लोह।
जूझै सब बन्द खोलि कै, छाड़ै तन का मोह ॥ ८३ ॥

१ अविनाशी की फौज में, मांड़ी दास कबीर। पा० ॥

सूरा के मैदान में, क्या कायर का काम।
कायर भाजै पीठ दै, सूर करै संग्राम॥ ८४॥

सूरा के मैदान में, कायर फन्दा आय।
ना भाजै ना लड़ि सकै, मनहि मन पछिताय॥ ८५॥

विवेक से मन को वश में करके न्यायार्जित धन का यथा योग्य विभाग पूर्वक उचित भोग करने ही वाला श्रेष्ठ शूर है ॥ ८२॥ देह में जो धनादि विषयक मोह आसक्ति रूप लोह को नहीं पहिरता, और सब बन्द (कपटादि) को त्याग कर विचार धर्मादि करता है, देह का मोह को भी छोडता है, सो सूर स्तुति का पात्र है ॥ ८३॥ पीठ दै (विवेक विचारादि से विमुख हो) कर, संसार में भागता है॥ ८४॥ फन्दा (फंसा) तो वह नहीं भागने पर भी लड़ नहीं सकता, किन्तु मन में आने का पश्चात्ताप करता है॥ ८५॥

खोजी को डर बहुत है, पल महँ पड़ै वियोग।
प्रन राखत जो तन गिरै, सो तन साहब योग॥ ८६॥

बाँका गढ बाँका मता, बांकी गढ़ की पोल।
काछ कबीरा नीकसा, यम सिर घाली रोल॥ ८७॥

बांकी तेग कबीर की, अनी पड़ै दो टूक।
मारा मीर महा बली, ऐसी मूठ अचूक॥ ८८॥

कबीर तोरा मान गढ़, [1]लूटी पांचौ खान।
ज्ञान कुल्हारी कर्म बन, काटि किया मैदान॥ ८९॥

खोजी (जिज्ञासु-अभ्यासी) को बहुत डर है, पल मात्र में वियोग (विक्षेप-संशय) प्राप्त होता है (पल पल पड़ै) पाठान्तर है, प्रण (प्रतिज्ञा-टेक) रहते में जो देह छूटता है, सो साहब की प्राप्ति के योग्य है॥ ८६॥

१ पड़े पांचो श्वान। पा० ॥

बाँका (सुन्दर-टेढ़ा) वह देह रूप गढ़ है, और बाँका उसका मता (सिद्धान्त) है, तथा बांकी गढ़ की पोल (मार्ग-गली) सुष्मणा नाड़ी है, वीर का वेष काछ (धर,) कर, कमर बांध कर उस द्वार से जो जीव निकला, सो यम शिर में भी रोल घाला (लाठी मारा) ॥ ८७ ॥ कबीर की तेग (तरवार) बाँकी है, रहस्य विचार विलक्षण है, जिसके अनी (नोक-लेश) मात्र से दो टूक (जड चेतन विविक्त) होता है, उससे मीर (अमीर-स्वामी) मन को मारा है, क्योंकि ऐसी ही अचूक (अमोघ) मूठ (प्रहार-निशाना) है ॥ ८८ ॥ ज्ञानेन्द्रियों की खानि (आकर-खजाना) को लूटा ॥ ८९ ॥

कबीर तोड़ा मान गढ़, मारा पांच गनीम।
ऐसो सीस नमावऊं, साधी बड़ी मुहीम ॥ ९० ॥

सिर राखे सिर जात है, शिर काटे शिर होय।
जैसे बाती दीप की, कटि उजियारा जोय ॥ ९१ ॥

कबीर पांचो मारिये, जिहि मारे सुख होय।
भला भला सब कोई कहै, बुरा न कहसी कोय ॥ ९२ ॥

जिसने मान (अभिमान) गढ़ को तोड़ा, और अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश, रूप पांच गनीम (दुष्ट-शत्रु) को मारा, ऐसे को सीस नमाता हूँ, उसने बड़ी मुहीम (मुहकमा-आक्रमण) को साधी है (जीती है), (सीस नँवाया धनी को) यह तृतीय चरण का पाठान्तर है ॥ ९० ॥ अभिमान रखने से शिर जाता है (बार २ मरण होता है), अभिमान के त्याग से उत्तम ज्ञान सुख मोक्ष मिलता है। जैसे दीप की जली हुई बाती को कटने पर प्रकाश देखा जाता है ॥ ९१ ॥ इसलिये अविद्यादि पांचो को मारिये कि जिसके मारने से सुख हो, और सब कोई भला २ ही कहे ॥ ९२ ॥

ऐसी मार कबीर की, मुआ न दीसै कोय।
कहैं कबिर सो ऊबरे, धड़ पर सीस न होय ॥ ९३ ॥

मारा है मरि जायगा, प्रेम सुरंगी वान ।
मेरा मारा फिर उठै, वहुरि न गहूं कमान ॥ ९४ ॥

ज्ञान कामठा गुन चिला, तन तरकस मन तीर ।
शब्द भालका सार का, मारै दास कबीर ॥ ९५ ॥

कड़ी कमान कबीर की, धरी रहै मैदान ।
सुरा ह्वै सो खींचहीं, नहिं कायर का काम ॥ ९६ ॥

सद्गुरु की शिष्य के प्रति ऐसी मार है, कि जिससे अभिमान रहितता रूप मृतकता को कोई समझ नहीं पाता है, और वही मुक्त होता है, कि जिसको देहाभिमान नहीं रहता है ॥ ९३ ॥ जिसको प्रेम (भक्ति) युक्त सुरंगी ज्ञान वाण मारा है, वह अवश्य अभिमानादि से मुक्त होगा । यदि मेरा मारा हुआ फिर अभिमानी होता है, तो उसके लिये फिर कमान भी नहीं पकड़ता हूँ ॥ ९४ ॥ मेरे धनुष में ज्ञान (विवेक) कमठ (बांस का भाग) है, शम दमादि गुण चिला (प्रत्यंचा-डोरी) है, स्थूल देह तरकस है, और मनोवृत्ति वाण है, सार तत्त्व का शब्द भाला है, इससे भक्त को गुरु मारते हैं ॥ ९५ ॥ परन्तु यह गुरु की कमान कड़ी है, मैदान में धरी रहने पर भी कोई सूरही खींच सकता है ॥ ९६ ॥

कबीर सोई सूरमा, पांचौं राखी चूर ।
जिन के पांचौं मोकली, तिन सो साहव दूर ॥ ९७ ॥

कबीर सोई सूरमा, जाके पांचौं हाथ ।
जाके पांचों वश नहीं, तो हरि संग न साथ ॥ ९८ ॥

तीर तुपक सो जो लड़ै, सो तो सूर न होय ।
माया तजि [1]भक्ती करैं, सूर कहावै सोय ॥ ९९ ॥

[1] हरि को भजे । पा० ॥

सूरा सन्मुख वाहता, कोइ न बांधै धीर।
पर दल मोरन रन अटल, ऐसा दास कबीर ॥१००॥

"यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह" इस कठ श्रुति के अनुसार मन सहित ज्ञानेन्द्रिय को चूर (सक्ष्म, वश) रखने वाला सूर योगी है। जिनके पांचों मोकली (खुली, स्वतन्त्र) हैं, उनसे साइब भी दूर हैं ॥ ९७ ॥ हाथ (वश) में ॥९८॥ माया (कपट-मोह-आसक्ति) ॥९९॥ भक्त रूप सूर साइब के सन्मुख ध्यान बान वाहता है, कामादि के सन्मुख ज्ञानादि बान चलाता है, जिससे कोई धैर्य नहीं बांध सकता, क्योंकि पर (शत्रु) के दल को मोरने वाला रन में अटल दास जीव ऐसा ही होता है उसके आगे कोई ठहर नहीं सकता ॥ १०० ॥

नाम कुल्हागी कुवुधि वन, काटि किया मैदान।
कबीर जीने मान गढ, मारै पांचौं खान ॥ १०१ ॥

सूरा थोरा ही भला, सत का रोपै पग्ग।
घना मिला किहि काम का, सावन का सा बग्ग ॥ १०२ ॥

[1]सूरे सार सँवाहिया, पहरा सहज सँयोग।
ज्ञान गयंद हि चढि चला, खेत परन का योग ॥ १०३ ॥

वह भक्त नाम के भजनादि रूप कुल्हाड़ी से कुबुद्धि रूप बन को काट कर मैदान किया है, इससे मान गढ़ को जीता है। अविद्यादि पांचों जन्म दुःखादि के खानों (आकरों) को मारा (नष्ट किया) है, और करता है ॥१०१॥ ऐसा सूर थोड़ा ही भला है, जो कि सत का पैर को रोपता (स्थिर करता) है, और घना (बहुत) मिला भी किस काम का है कि जो श्रावन के बक के समान विषय हवा के वेग में उड़ता है, या श्रावन के बाग तुल्य थोड़े देर हरा भरा है ॥१०२॥ शूर जैसे लोहे का मार को भी पाता और

१ सूरा सार सँभालिया । पा० ॥

सहता है, तैसे भक्त सार शब्द विवेकादि को सम्यक् प्राप्त किया, और सहज वृत्ति धारणा-स्वभाव-समाधि-संतोष रूप संयोग (पूर्ण योग) चोला पहिरा, कवच का धारण किया, फिर ज्ञान रूप हाथी पर चढ़ कर चला कि जहां विसु चेत्र में पड़ने (पहुँचने) का योग मिलता है ॥१०३॥

अव तो जूझैं ही वनैं, मुड़ि चालै घर दूर।
सिर साहव को सौंपते, शोच न कीजं सूर॥ १०४॥

भागै भला न होयगा, कछु सूरातन सार।
भरम बखतर दूर करी, सुमरन सेल सभार॥ १०५॥

भागैं भला न होयगा, मुड़ि चालै धसि दूर।
खड्ग उपारै ना डरै, सो सांचा है सूर॥ १०६॥

सूर भक्त के तन में कुछ भी सार (वल) हो तो भ्रम (अविद्या) के बखतर को दूर करके स्मरण रूप सेल (भाला) को संभारना चाहिये ॥१०४, १०५॥ फिर चलने से दूर अविद्या मे धसि पड़ोगे, इसलिये ज्ञान खड्ग को उपारै (उठावै) और डरै नहीं सोई सांचा सूर है ।। १०६ ।।

सेल जु जाही मारिये, नहिं काहूं की ओट।
ओलाजा लोपौ नहीं, खाली परं न चोट॥ १०७॥

निशंक ह्वै रन में रहै, ज्यों दरिया में दोट।
साहव तव ही पाइये, सहिये शिर पर चोट। १ ८॥

चित चेतन ताजो करै, लौ की करै लगाम।
शव्द गुरू का ताजना, पहुँचे सन्त सुठाम॥ १०९॥

लड़ने को सव ही चले, सस्तर वांधि अनेक।
साहव आगे आपने, जूझेगा कोइ एक॥ ११०॥

जिस भक्त पर ज्ञान शब्द सेल (शस्त्र) का प्रहार किया जाता है, सो अविद्यादि किसी अनात्मा के ओट (परदा-शरण) में नहीं रहता, न उसको

ओलाजा (उल्लज्जता-उत्साह-गर्व-हर्ष) होता है, न लोप (संकोच खेद दुःख) होता है, क्योंकि उस में उपदेश का चोट व्यर्थ नहीं जाता है ॥ १०७ ॥ दोट (दोषा-सिकन्दरी मुजा-जहाजादि) चोट (गुरु की ताड़ना) ॥ १०८ ॥ चेतन (जीव) चित्त को ताजी घोड़ी करे, लौ (ध्यान) को लगाम करे, गुरु शब्द को ताजना (चाबुक) करे तब सन्त सुठाम में पहुँचता है ॥ १०९ ॥ अनेक (सकाम कर्मादि) कोई एक (निष्काम) ॥ ११० ॥

कठिन कमान कबीर की, पड़ी रहै मैदान।
केते योधा पचि गये, खींचै सन्त सुजान ॥ १११ ॥
कड़ी कमान कबीर की, न्यारे न्यारे तीर।
चुनि चुनि मारै बखतरी, मूरख गिनै न तीर ॥ ११२ ॥
कड़ि कमान कबीर की, काचा टिकै न कोय।
सिर सौंपै सीधा लड़ै, सूरा कहिये सोय ॥ ११३ ॥
[1]रक्त बहै लोहा झरै, टूटै जिरह जँजीर।
अविनाशी की फौज में, गूँजै दास कबीर ॥ ११४ ॥

कठिन कमान (निष्काम सत्कर्म भक्ति ज्ञानादि) सुजान (विवेकी) ॥ १११ ॥ न्यारे २ तीर (ध्यान-विचार-भक्ति आदि) बखतरी (देहाभिमानी) को गुरु के उपदेश चुन २ कर मारता है, अभिमान छुड़ाता है, परन्तु मूर्ख उस तीर को गिनता (समझता) ही नहीं है ॥ ११२ ॥ काचा (डरपोक) सीधा (निष्कपट) विचारादि करै ॥ ११३ ॥ ऐसा करने से रक्त (राग) नष्ट होता है, लोहा (मोह वासना) मिटता है, जिरह (संशय-विवाद) बखतर छूटता है, फिर अविनाशी हरि के दल में वह दास जीव गूंजता (मधुर रव करता) है ॥ ११४ ॥

ध्वजा फरक्कै सुन्न में, वाजै अनहद तूर।
तकिया है मैदान में, पहुँचेगा कोई सूर ॥ ११५ ॥

---

१ सार । पा० ॥

रन रोही अति ही हुआ, साजन मिला हजूर।
सूरा सूरा ठाहरा, भाजि गई भक भूर॥ ११६ ॥

सब ही साथी कल तरो, धीर न बंधै कोय।
भागा पीछे बाहुरे, ठाढ़ गुसाईं सोय॥ ११७॥

फिर उस भक्त से शून्य मंडल में ध्वजा फहराता है, अनहद रूप तूरही बाजता है, और उसका तकिया (तकृथ-आसन) मैदान में है, जहां कोई सूर ही पहुँचेगा॥ ११५॥ जो रण में अतिरोही (आरूढ) हुआ, उसे सज्जन गुरु आदि भी प्रकट मिले, जो सूर सब रण में ठहर गये उनकी भकभूर (भारी बहुत भ्रान्ति) भाग गई। तथा रण में सूर ठहरे परन्तु भूर (बहुत) भकुआ जनता भाग गई॥११६॥ सब ही के साथी कल्पतरु है, परन्तु कोई धैर्य नहीं धरता है, भागता है, यदि भागा हुआ भी पीछे लौटे तो वह कल्पतरु गोस्वामी खड़े ही मिल जाय। ११७॥

भागि कहाँ को जाइये, भय भारी घर दूर।
वहुरि कबीरा खेत रहु, दल आया भर पूर॥ ११८॥

सति जो डरपै अगिन ते, सूरा सर हि डराय।
हरि जन भागै भक्ति सो, देश दुनी ते जाय॥ ११९॥

राम झरोखे बैठ के, सबका मुजरा लेय।
जैसी जाकी चाकरी, तैसा मुनसब देय॥ १२०॥

गुरु शरण विचारादि युद्ध भूमि से भागने पर भारी भय उपस्थित होता है, और मोक्ष भवन दूर पड़ता है। इसलिये हे जीव! लौट कर युद्ध क्षेत्र में रहो, कामादि के अधिक दल आया है, भगोगे कहाँ॥ ११८॥ सर (वाण) दुनी (संसार) से जाय (नष्ट होय) । ११९॥ झरोखे (इन्द्रियों के गोलकों) में, मोजरा (हिसाब-हाजिरी)॥ १२०॥

जो सिर सौंपा सांई को, वह सिर भया सनाथ।
कबीर दे उबरन भये, जाका ताके हाथ॥ १२१॥

स्वामी को जो सिर सौंपा गया वह सनाथ (सार्थक) भया, क्योंकि सिर देने वाले सिर देकर उबरन (उत्तम उज्जवल बरन) हुए, शुद्ध स्वरूप हो गये, और जिसका रहे उसी के हाथ में आ गये। १२१।

जाका ताको दीजिये, कभी उबरना होय।
पहिले देवै सो खरा, पीछे तो सब कोय ॥ १२२ ॥

सूरा सोई जानिये, पांव न पीछे पेख।
आगे चलि पीछा फिरे, ताका मुख नहिं देख ॥ १२३ ॥

देखा देखी सूर चढ़ै, मर्म न जानै कोय।
सांईं कारण सीस दे, सूरा जानौ सोय ॥ १२४ ॥

सिर साटे का खेल है, सो सूरन का काम।
पहिले मरना आग में, पीछे कहना राम ॥ १२५ ॥
हरि का गुन अति कठिन है, ऊंचा बहुत अकथ्थ।
शिर काटा पग तर धरै, तब जा पहुंचै हथ्थ ॥ १२६ ॥

शिर भी जिस साहब का है, उसे देना चाहिये, तो कभी उबरना (मोक्ष होगा, सो भी मरने से प्रथम दे, वह खरा (सच्चा), पीछे तो सब कोई देता है ॥ १२२ ॥ अपना पाँव को पीछे पड़ता हुआ न देखे, और पीछे पाँव देनेवाले का मुख नहीं देखे ॥ १२३ ॥ मर्म (भेद) ॥ १२४ ॥ सिर अर्पन का खेल है, जहाँ प्रथम तप दमादि अग्नि में मरना है, फिर प्रेम भक्ति ज्ञानादि को प्राप्त करना है ॥ १२५ ॥ हरि का गुण (समदृष्टिता, ज्ञान, संतोष, शान्ति, तृप्ति आदि) शिर आदि के अभिमान को त्यागे, नम्र हो तो वहाँ तक मन बुद्धि पहुँचती है ॥ १२६॥

घटी बढ़ी जानै नहीं, मन में राखै जीत।
गाडर रूड़ै गयन्द सो, देखो उलटी रीत ॥ १२७ ॥
कूकर बहु बहु जुरि मुआ, सलसै चढ़ी सियार।
रोवत आवै गदहरा, बोघत आय बिलार ॥ १२८ ॥

जिसको गम पहुँच नहीं है, सो इस युद्ध से मुख मोड़ने में जो घटी (हानि) संसार दुःखादि हैं उसको नहीं जानता है, न युद्ध से होने वाली बढ़ी (वृद्धि) मोक्षादि को जानता है, किन्तु मन में जीत के अभिमान इच्छा रखता है, स्वर्ग मोक्षादि चाहता है, तो ऐसे जग (संसारी) की उलटी रीति देखो कि यह अविवेकी गाडर तुल्य जीव कामादि रूप गयन्द (हाथी) से लड़ता (गुरु गम विना ही जीतना चाहता) है ॥ १२७ ॥ वह लड़ने वाला बहुत कूकर के समान बहुत प्रकार से जुड़ि (जुट-मिल) कर झगड़ कर मुआ, और वह कामादि रूप सियार सालसा वृक्ष तुल्य संशय अज्ञान पर चढ़ गया (अज्ञानादि के आश्रित जीवित रहा) इनसे मारा नहीं गया इससे गदहा तुल्य अज्ञ बार २ रोता हुआ संसार में आता है। विलार तुल्य मोह रागादि इसके साथ ही अपने अनुकूल बोधते (समझाते) आता है, मोहादि से मुक्त नहीं होने पाता है (जुरि मुआ के जरि मुआ) पाठान्तर है ॥ १२८ ॥

मा मारी धी घर करै, गौ सो वच्छा खाय।
ब्राह्मण मारै मद पिये, तो अमरापुर जाय ॥ १२९ ॥

माता मुये एक फल, पिता मुये फल चार।
भाई मूये हानि है, कहै कवीर विचार ॥ १३० ॥

जो गुरुमुखी गुरुगम पाकर उसी अस्त्र से मा (माया-ममता) को मार कर धी (वुद्धि) को घर (हृदय) में स्थिर करे, फिर सो (वही) बुद्धि रूप गौ के वच्छा (मन के विकल्प) को खा जाय। मन रूप ब्रह्मा के सन्तान रूप कामादि को भी मार डारै. फिर मद (हर्ष ब्रह्मानन्दामृत) को पीवे, तो अमरापुर (निर्विकल्प समाधि-जीवन्मुक्ति) में जाय (प्राप्त होवे) ॥ १२९ ॥ गुरु गम से माता (ममता माया) के मरने से एक अद्वैतात्मा के अनुभव विवेकादि रूप कोई एक फल होता है, और पिता (सर्व जनक मोह) के मरने से अर्थादि चारों फल होते हैं, मोह के नहीं रहने पर अर्थ,

धर्म, काम के रहते भी मोक्ष में क्षति नहीं होती है। परन्तु विवेकयुक्त मन सद्भाव रूप भाई के मरने से हानि है, जीवन्मुक्ति का आनन्द सदाचारादि विना नहीं हो सकता, सो सद्गुरु विचार कर कहते हैं, विचार की बात हैं ॥ १३० ॥

अचर चरै चर परिहरै, मरे न चारै जाय।
बारह मास बिलोवना, घूमै एकै भाय ॥ १३१ ॥

सदाचारी गुरुगमवाला अचर (अचल) सत्यात्मा में विवेकी मन रूप भाई के साथ चरता (विचरता) है। चर (चंचल-अनित्य) मिथ्या मायामय पदार्थों को त्यागता है, इससे कभी मरता नहीं है, न किसी के चारै (अधीन-प्रेरणा के वश) हो कर कहीं नरक स्वर्गादि में जाता है। इससे बारह मास (सदा) बिलोवना (विलोड़ना-विचारणा) करते हुए एक भाव से घूमता (विचरता) है, भेदभाव रागद्वेषादि में कभी नहीं पड़ता है, इससे जीवन्मुक्त सुखी रहता है ॥ दूसरा अर्थ है कि भाई के मरने से हानि है इसीसे भाई को रक्षित रख कर विवेकी मनुष्य अचर अन्न को सदा चरता (भोजन कर्ता) है। चर (जंगम) प्राणी के मांस को सर्वथा त्यागता है, क्योंकि स्वयं मरे प्राणी के मांस को भी वह चारै (खाने) जाता है, तथा इसे मरने पर भी इसको कोइ चारने (खाने) नहीं जाता है, और मांसाहारियों को तो "मां स भक्षयिताऽमुत्र यस्य मांसमिहाद्म्यहम्" इस मनुभगवान् के वचनानुसार, जिस प्राणी के मांस वे आज खाते हैं, सो प्राणी फिर उन्हें खायेंगें, यही मांस में मांसत्व है, अन्यथा उसका मांस नाम ही ठीक नहीं है. अन्य अन्न के विषय में किसी धर्मशास्त्र वा महात्मा का ऐसा वचन नहीं है। इससे अन्नाहारी विवेकी निरामिष को मरने पर भी कोइ मारने वाला नहीं है, इसीसे उसको सदा ब्रह्मानन्द का ही आलोड़न करना है, वह सदा एक सत्य स्वसत्ता में घूमता है ॥ तीसरा अर्थ है कि प्रेमभावादि भाई की रक्षा के लिये, अचर (जड) देह को चरै (अभि-

मान त्यागें) और चर (मन भावादि, को जीवन्मुक्त काल में परिहरें, ब्रह्मानन्द में दौड़ने दे। परन्तु प्रारब्धान्त में जब वह स्वयं मरेगा, तो आप ही वह न जन्म लेगा न चारा चरेगा। समाधि काल तक कथञ्चित जीवित भी रहेगा, तो सदा विलोपता (योग निद्रा में झुकता) हुआ, एकाकार वृत्ति में घूमेगा, अन्यथा स्वरूपस्थ होगा "शान्तोदितौ तुल्य प्रत्ययौ चित्तै-काग्रता परिणामः)। योगसू० ३। १२॥" अथवा अर्थ है कि, गुरु गम पाकर अचर (जड़ देहादि) को चरै (ज्ञानादि से बाध नष्ट करै, और चर चेतन-जीवात्मा को परिहरै (बाध नाशरहित समझै) 'जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते जीवो म्रियते ६। ११। ३॥ अविनाशी वा अरेऽयमात्मा-ऽनुच्छित्तिधर्मा। बृ ४। ५। १४" इत्यादि शास्त्र के अनुसार देह ही मरता है, जीवात्मा नहीं मरता है, क्योंकि वह अविनाशी उच्छेद रहित है, कठोप-निषद् के वचन हैं कि "अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम्। महान्तं विभुमात्मान मत्वा धीरो न शोचति। १। २। २२" शरीर में भी शरीर रहित (शरीर के धर्मों से असम्बद्ध) अतएव अनस्थिर में भी स्थिर महान् विभु आत्मा को जान कर ज्ञानी मोह रहित होता है। इससे चेतन जीवात्मा के नाश मरणादि बुद्धि को त्यागें, भाग त्यागादि से अजर अमर अखंड ब्रह्म स्वरूप समझे, ऐसा करने से फिर वह कभी मरता नहीं है, न मर कर चारौं (चराचर) योनि में जाता है, या देवादि के चारै (भक्षण-सेवा) में नहीं जाता है, पराधीन नहीं होता है, किन्तु बारह मास के जो बारह सूर्य हैं, उनके बिल (छिद्र) का भी वह ज्ञानी उलंघन करता है, अर्थात् पञ्चाग्नि आदि के उपासक उत्तरायण मार्ग के गामी जीव सूर्य का भेदन करके ब्रह्म-लोक में जाते हैं, सो "द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्यमंडलभेदिनौ। परिव्राड् योगयुक्तश्च रणे चाऽभिमुखो हतः" इत्यादि शास्त्र में प्रसिद्ध है कि योगयुक्त संन्यासी त्यागी महात्मा और रन में सन्मुख मारा गया वीर दो पुरुष सूर्य मण्डल का भेदन करते हैं, परन्तु यह ज्ञान वीर तो जीतेजी उस

सूर्य के बिल का उलंघन (ज्ञान से बाध) करता है, और "न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्र तारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः" इत्यादि शास्त्र से बोधित नित्य स्वयं प्रकाश आत्म तत्त्व को ही समझता है, . अथवा गुरु गम होने पर भी यदि ब्रह्मलोकादि की प्रबल वासना वश अपरोक्षानुभव नहीं होता है, तो भी वह गुरुमुखी वीर बारह मास के बिल का उलंघन करके ब्रह्म लोक में जाता है, अन्य जीवों के समान वह कभी दुर्गति नहीं पाता है, सो "नहि कल्याणकृत्कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति भ० गी० ६, ४०" इत्यादि शास्त्र मे प्रसिद्ध है, और ब्रह्मरूपता को प्राप्त होने पर तो "आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः । कठ० १ । २ । २१" इत्यादि वचन के अनुसार आत्म स्वरूप से स्थिर होते भी ज्ञान दृष्टि से दूर जाता है, सोया हुआ भी सर्वत्र जाता है, इससे एकात्मभाव से सर्वत्र घूमता है, वस्तुतः अक्रिय अचल रहता है ॥ १११ ॥ शूर के विषय में दादू दयालजी का वचन है कि—

माहैं मन सो जूझि करि, ऐसा शूरा वीर।
इन्द्रिय अरि दल भानि सब, यों कलि हुवा कबीर ॥ १ ।

सांई कारण शीस दे, तन मन सकल शरीर।
दादू प्राणी पञ्च दे, यों हरि मिला कबीर ॥ २ ॥

ऐसा (अपूर्व) शूरा (शूर समूह) तुल्य एक कबीर कलि में ऐसा हुआ जो अन्दर के मन से युद्ध करके सब इन्द्रिय और कामादि सब अरि दल को भानी (नष्ट किया) ॥ १ ॥ सर्वात्मा सांई के लिये शीस दे कर, स्थूल तन का अभिमान को तथा सब शरीर और पांच प्राण के समूह को देकर (इन्हे ब्रह्मार्पण करके) इस प्रकार कबीर हरि से तन्मयता (ब्रह्मरूपता) से मिला, यही सब बिलों का उलंघन करने वालों की रीति है। पञ्च कोश रूप देह भी अभिमानादि रूप सर्प के बिल हैं ॥ तहाँ "मन मनसा मारै नहीं, काया मारन जाहिं। दादू बांबी मारिये, सर्प मरै क्यों माहिं" जो

कोई मन मनोरथ अभिमानादि को नहीं मार कर काया (स्थूल देह) को तप आदि से मारने जाते हैं, तो देह रूप बाँबी (बील) के मारने से माँह (अन्दर) के सर्प (अभिमान कामादि) कैसे मर सकते हैं, इससे सर्प को मारने के लिये उक्त वीर कबीर के समान अन्दर के मन आदि से युद्ध करना चाहिये ॥ २ ॥

शूरत्वं विजितेन्द्रियत्वममलं ब्रह्मज्ञता तत्परम्,
सत्सङ्गादिविचारध्यानसुलभं पापौघविद्रावणम् ।
जीवन्मुक्तिफलं यशोद्युतिकरं देवादिभिर्वन्दितम्,
ध्येयं ध्येयविदां हि सुजनाः संपादयन्तु द्रुतम् ॥ १ ॥

एकं ब्रह्म निरञ्जनं स्मृतिमुखे संधारयन्तः सदा,
बाह्यं वस्तु विहाय योगकलया ह्यन्तर्मनोऽधीयताम् ।
यावन्नो मनसो भवेद्गतिरियं तावद्गुरूणां वचः,
श्रद्धाभक्तिसमादरादिसहितं सूत्कण्ठया गीयताम् ॥ २ ॥

मोहाम्भोधिसुतारकं गुरुवरं रामं सदा निर्गुणम्,
शुद्धं ज्ञानघनं तमोऽन्धहरणं भक्ताऽभये कारणम् ।
गोतीतं गणनायकादि सहितैरीशादिभिः सेवितम्,
नित्याप्तं हि भजन्तु शान्तहृदया गच्छन्तु तं निर्मलम् ॥३॥

शूरत्वं बलमस्ति सर्वसुखदं सर्वाधिकारप्रदम्,
प्रेमानन्दमहोत्सवस्य करणं सर्वाघसंहारकम् ।
धर्माधर्मविवेक धैर्यधनदं ह्यैकान्तिकं तत्फलम्,
कैवल्यं जगदन्तकोटिविगमे तत्सर्वदा सुस्थिरम् ॥ ४ ॥

युद्धक्षेत्रेऽत्र संसारे सुयुद्धं न करोति यः ।
रुदित्वा स जनिं लब्ध्वा म्रियते च पुनः पुनः ॥ ५ ॥

ततः सम्पाद्य शूरत्वं कृपणत्वं परित्यजेत् ।
मोहार्णवं समुत्तीर्याऽहंकारं रावणं खनेत् ॥ ६ ॥

शान्ति सीतां समाश्रित्य हृदये नगरे स्थितः ।
रामरूपोऽमरो ज्ञानी मोदते मोदयन् जगत् ॥ ७ ॥

इति शूरता का अंग ॥

अथ व्यापक का अंग ॥ ६७ ॥

जेता घट तेता मता, बहु बानी बहु भेख ।
सब घट व्यापक साँइयां,[1] अगम अपार अलेख ॥ १ ॥
सब घट मेरा साइयां, सुनी सेज न कोय ।
बलिहारी वा घटहि की, जा घट परगट होय ॥ २ ॥
जाति जाति का पाहुना, जाति जाति पहँ जाय ।
साहब [2]जाति अजाति है, सब घट रहा समाय ॥ ३ ॥

जितने घट (देह) हैं, उतने भिन्न २ मत (मति-विचार) है बानी और भेख भी बहुत है, सर्वात्मा साक्षी स्वरूप स्वामी सब घट में व्यापक और इन्द्रियों से अगम्य अपार और अलेख (अदृश्य) है ॥ १ ॥ यद्यपि मेरा स्वामी सब घट में है, कोई हृदय रूप शय्या उससे शून्य नहीं है, परन्तु उस घट की बलिहारी है कि जिस घट में वह प्रगट (प्रत्यक्ष) होता है ॥ २ ॥ लोक में तत्तत् जाति के पाहुन तत्तत् जाति के यहाँ जाते हैं, और साहब तो अजाति (जन्म रहित) जाति (सब के लिये तुल्य है, इससे सब घट में समा रहा है, प्रकट होने में भी जाति का नियम नहीं रखता है ॥ ३ ॥

बालक रूपी सांइया, खेलै सब घट माहिं ।
जो चाहै सो करत है, भय काहू का नाहिं ॥ ४ ॥

---

१ ह्वै रहा, रहा सोइ आप अलेख । २ सब की जाति है, जाति सुजाति है ॥ पा०

भूला भूला क्या फिरै, शिर पर चढि[1] गइ बेल।
तेरा सांई तुझहि में, ज्यों तिल माहीं तेल॥ ५॥

ज्यों तिल माहीं तेल है, चकमक माहीं आग।
तेरा सांई तुझ हि में, जाग सकै तो जाग॥ ६॥

बालक रूपी (राग द्वेषादि रहित) स्वामी सब घट में खेलता है, और रागादि विना जो चाहता है सो करता है, उसको किसी का भय नहीं है॥ ४॥ अन्यत्र भूला २ भटकता हुआ क्या फिरता है, माया वेलि शिर पर चढ़ गई है, उसे समझो, तेरा स्वामी तुम में ही है, जैसे कि तिल में तेल रहता है, यहाँ खोजो॥ ५॥ तिल में तेल और चकमक में आग के समान तेरा स्वामी तुम में है, मोह निन्द से नहीं समझ पडता है, इसलिये जाग सको तो जागो (विवेक करो)॥ ६॥

जैसी लकड़ी ढाक की, ऐसा तन यह देख।
वा में केसू छिपि रहा, या में पुरुष अलेख॥ ७॥

दरदवन्त कोइ जान ही, सब घट व्यापक पीर।
सब घट व्यापक ह्वै रहा, रमता राम कबीर॥ ८॥
राम कबीरा एक है, चीन्है विरला कोय।
अन्तर टाटी भरम की, ताते देखै दोय॥ ९॥

ढाक (पलास) लकडी के समान इस देह को देखो कि जैसे उस लकड़ी (वृक्ष) में केसू (लालपुष्प) छिप रहा है, फूलने से प्रथम दीखता नही है, तैसे इसमें अलेख (अदृश्य) पुरुष (आत्माराम हरि) है॥ ७॥ कोई दरदवन्त (दयालु शुद्ध चित्तवाला) पुरुष जैसे सब घट में व्यापक पीर (पीड़ा-दुख) को तुल्य समझता है, इससे किसी को पीडित नहीं करता है, तैसे ही सब घट में रमता (स्वतन्त्र) राम भी व्यापक ह्वै रहा है,

१ बढि गइ।

ऐसा भी दरदवन्त जानता है।। ८ ॥ पारमार्थिक रूप में राम और कबीरा (जीव) एक ही है, उसको विरला कोई विमल पुरुष चीन्हता है, अन्तर में भ्रम की टाटी से ही दो भासता है ॥ ९ ॥

राम कबीरा एक है, कहन सुनन को दोय।
दोय करि सोई जानई, सतगुरु मिला न होय ॥ १० ॥

राम और जीव एक है, परन्तु कहने सुनने (व्यवहार) के लिये दो है। वस्तुतः दो करके वह जानता है कि जिसको सद्गुरु नहीं मिला है ॥ १० ॥

काया कफ चित चकमके, झारो वारं बार।
तीन वार धूँआ भया, चौथे पड़ा अंगार ॥ ११ ॥

जा कारण जग ढूंढिया, सो तो घट ही माहिं।
परदा दीया भरम का, ताते सूझै नाहिं ॥ १२ ॥

देह रूप कफनी (वस्त्र-तूल) पर चित्त चकमक को वार-वार झाड़ो (ठोको) तो तीन अवस्था गुण तक धूम (ज्ञान का पूर्वरूप हो) कर चौथे में अनुभव होगा ॥ ११ ॥ जा कारण (जिसे पाने के लिये) जिसको जगत में खोजा, भरम (भ्रम-मोह-आसक्ति) ॥ १२ ॥

इति व्यापक का अंग ॥

अथ सती का अंग ॥ ६८ ॥

सती पुकारै सर चढ़ी, सुन रे मीत मसान।
लोग बटाऊ सब गये, हम तुम रहे निदान ॥ १ ॥

सती बिचारी सत किया, कांटों सेज बिछाय।
लै सूती पिय [1]संग में, चहुदिशि आग लगाय ॥ २ ॥

---

[1] पिय आपना। पा० ॥

सती सुरातन साधिया, तन मन कीया दान।
दीया महुला पीव को, मरघट करै वखान ॥ ३ ॥

सरा (चिता) पर चढ़ कर भी सती पुकारती है, कि रे मित्र मसान सुन, बटाऊ (पथिक) लोग सब गये, परन्तु निदान (अन्त) में भी हम तुम रहे। अर्थात् "स्थित्वाऽस्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति। भ० गी० २। ७२" इत्यादि वचनों के अनुसार सत्यात्मनिष्ठ ज्ञानी भक्त की बुद्धि अन्तकाल में भी मोह रहित और सत्य ज्ञाननिष्ठ ही रहती है। संसारी की बुद्धि विचलित होती है ॥ १ ॥ क्योंकि बेचारी सती प्रथम से भी सत्य का अभ्यास किया है। अन्त में भी तीव्र विरागादि रूप कांटों की शय्या बिछा कर ज्ञानाग्नि को सर्वत्र लगा कर, प्रियतमात्मा को संग में लेकर मानो सूती है ॥ २ ॥ ऐसी सती मानो सुरातन (शूरता) को सिद्ध किया है, तन मन का दान दिया है। प्रिय आत्मा को भी महुला (मोहब्बत-प्रेम का आनन्द) दिया, अर्थात् सद्गुरु आदि को सन्तुष्ट किया है, कि जिससे वे भी मरघट (श्मशान) में भी वखान करते (सुयश कहते) हैं। "सती सूर तन ताइया, तन मन कीया घान। नाम जपत चिन्ता मिटी, निकसा तन से प्रान ॥" यह पाठान्तर है। सती और सूर तन को तपाया, और तन मन का नाश किया इत्यादि अर्थ है ॥ ३ ॥

सती जरन को निकसी, चित धरि एक विवेक।
तन मन सौंपा पीव को, अन्तर रही न रेख ॥ ४ ॥

सत्य निष्ठ बुद्धि चित्त में एकात्मा का विवेक को धर के ज्ञानाग्नि से जलने के लिये निकली (देहाभिमान मोह को त्यागी) फिर तन मन आदि का ईश्वरार्पण किया, तब ईश्वर से रेख मात्र भी अन्तर (भेद) नहीं रही, तल्लीन हो गई ॥ ४ ॥

हौं तोहि पूछौं हे सखी, जीवत क्यों न जराय।
मूये पीछे सत करै, जीवत क्यों न कराय ॥ ५ ॥

सती जरन को नीकसी, पिव का सुमिर सनेह।
शब्द सुनत जिय नीकसा, भूलि गई [1]सब देह ॥ ६ ॥

प्रायः पति के मरने पर स्त्रियाँ सती होती हैं। मरने पर चार मुक्ति मानी जाती हैं, तहाँ सुबुद्धि अपनी सखी से पूछती है, कि जीवते में ही ज्ञानाग्नि से देह को क्यों न जला दिया जाय, जो मरने के पीछे सत करते (सत्य मोक्ष ठहराते) हैं, सो जीते जी सत क्यों नहीं करते हैं ॥ ५ ॥ उत्तर है कि जीती हुई सती ज्ञानाग्नि से जलने के लिये, स्वामी का प्रेम को याद स्मरण करके निकली, सद्गुरु आदि के शब्द को सुन कर, सब (तीनों) देह को भूल गई, और देह से प्राण निकल गया (देहाभिमान छूट गया), इससे मानो मरने पर सत किया, परन्तु वस्तुतः जीते ही जो सत किया जाता है, जीवन्मुक्ति पूर्वक विदेहमुक्ति वेदादि से सिद्ध है ॥ ६ ॥

कबीर सतियां कुसतिया, जरैं मरे की लार।
सतियाँ सोई जानिये, जरैं सँभारि सँभारि ॥ ७ ॥

वे सतियाँ कुसतियाँ हैं, जो कि मरे के लार (पास) जलती हैं, मृतक को भजती हैं, मरने पर मुक्ति मानती हैं। सोई परमार्थ सतियाँ जानिये, जो परमार्थ तत्त्व को सँभार २ (समझ २) कर ज्ञानाग्नि से जलती हैं, मन इन्द्रिय को सँभार (रोक) कर जीवन्मृतक होकर जलती हैं ॥ ७ ॥

इति सती का अंग ॥

अथ जीवतमृतक का अंग ॥ ६९ ॥

जीवत मृतक ह्वै रहै, तजैं खलक की आस।
आगे पीछे हरि फिरे, मति दुख पावै दास ॥ १ ॥

---

१ निज । पा० ॥

खरी कसौटी राम को, [1]झूठा टिकै न कोय।
राम कसौंटी सो टिकै, जीवत मिरतक होय॥ २॥

कसत कसौटी जो रहै, सो कहिये कुल हंस।
तिन सो शब्द सुनाइये, सोइ हमारो अंश॥ ३॥

कांच कथीर अधीर नर, जनन किये ह्वे भंग।
साधू कञ्चन ताइये, चढै सवाई रंग॥ ४॥

अभिमान रहित हो कर रहो, और खलक (संसार) की आशा को त्यागो, क्योंकि भक्तों के आगे पीछे हरि फिरते हैं, कि भक्त दुःखी न हो॥ १॥ परन्तु राम की कसौटी (परीक्षा) भी खरी (सच्ची) है, उसमें कोई झूठा भक्त टिकने नहीं पाता है, राम की कसौटी में सोई टिकता है, जो निरभिमानी होता है॥ २॥ राम गुरु की कसौटी कसते में जो टिका रहता है, उसको कुलीन विवेकी कहते हैं, उनको सार शब्द सुनाना चाहिये, सोई हमारे अंश (भाग) हैं॥ ३॥ कच्चे दिल के कुस्थिति वाले धैर्य रहित नर को जनों (भक्तों) में परीक्षा करने से तपाने से भग नाश) होता है, उनकी परीक्षा से वे नष्ट होते हैं, साधु और कंचन को तपाने कसने से सवाई रंग चढता है॥ ४॥

कञ्चन केवल हरि भजन, दूजा कांच कथीर।
छूटे आल जंजाल सब, पकड़े सांच कबीर॥ ५॥

कांच कथीर अधीर नर, सकैं न उपजै प्रेम।
कबीर कसनी सहत है, कै हीरा कै हेम॥ ६॥

मरता मरता जग मुआ, औसर मुआ न कोय।
दास कबीरा यों मुआ, बहुरि न मरना होय॥ ७॥

---

१ खोटा। पा०॥

जीवन ते मरना भला, जौं मरि जानें कोय ।
मरना पहिले जो मरै, तो कलि अजरा होय ।। ८ ।।

कञ्चन (उज्जवल) केवल हरि भजन है. दूसरी बात कांच कुवस्तु है, सांच को पकड़े तो सब आल जंजाल (बन्धन बखेरा) छूट जाय ।। ५ ।। परन्तु कांचा आदि मनुष्य सांच को पकड नहीं सकता, न उसमें प्रेम उपजता है, क्योंकि कसनी भी हीरा या हेम (कंचन) ही सहता है कांचादि नहीं सहता है ।। ६ ।। मरते २ सब मुआ परन्तु सांच के अवसर पर नहीं मुआ, दास ही जीव ऐसा मुआ कि जिससे फिर मरना नहीं होय ।। ७ ।। जीवन से मरना भला है, यदि बहुरि मरन रहित मरन को कोई जाने, या मर कर सत्य को जानै, मरन से प्रथम ही यदि मरे तो कलि में भी वह निरभिमानी अजरा हो जाय ।। ८ ।।

मन [1]मनसा ममता मुई, अहं गई सब छूट ।
गगन मंडल में घर किया, काल रहा सिर कूट ।। ९ ।।

आप मिटाये हरि मिले, हरि मिटाय सब जाय ।
अकथ कहानी प्रेम की, कहे न कोइ पतियाय ।। १० ।।

जिहि मरने ते जग डरै, मेरे मन आनन्द ।
कब मरि हौं कब भेटि हौं, पूरन परमानन्द ।। ११ ।।

मरना भला विदेश का, जहँ अपना नहिं कोय ।
जीव जन्तु भोजन करै, सहज महोछा होय ।। १२ ।।

जिसके मन मनोरथ ममता गर्व सब नष्ट हो गये । वह गगन मंडल में घर बनाया तो उसको काल नहीं कुछ कर सकता ।। ९ ।। आप (ममता) के मिटाने से हरि मिलते हैं, और हरि के मिटाने से सब सुखादि नष्ट होता है, इसलिये हरि प्रेम की कहानी अकथ है ।। १० ।। जिस मरन से संसार

१ मन की मनसा मिटि गई ।। पा०

डरता है, उसी से मेरे भक्तों के मन में परम आनन्द है कि कब मरूंगा कि जिससे पूर्ण परमानन्द स्वरूप हरि से कब भेटूंगा ॥ ११ ॥ यह मरना भी विदेश का भला है कि जहां मोह ममता का विषय अपना कोई नहीं हो। वहां के जीवजन्तु सब शरीर का भोजन कर लें कि जिससे उनका सहज ही महोत्सव हो जाय ॥ १२ ॥

कबीर चेरा सन्तका, दासन के पर दास।
अब तो ऐसा ह्वै रहो, पांव तले का घास ॥ १३ ॥

जो नमये सो आपको, पर को नमै न कोय।
घालि तराजू तौलिये, नमै सो गरुआ होय। १४ ॥

नीचा होये वड़ नफा, नमैं सो विरला कोय।
हीरा हरी हजूर का, लहै स नीचा होय ॥ १५ ॥

जीवतमृतक होना चाहो तो सन्त का चेरा और दासों के परे दास होकर, ऐसा हो रहो कि जैसे पाँव तले की घास रहती है ॥ १३ ॥ समझो कि जो नमता है, सो अपने लिये नमता है, तराजू पर वस्तु घाल (धर) कर देखो नमने वाला अधिक होगा, ऐसे ही नमने वाला वड़ा होता है ॥ १४ ॥ इससे नीचा (नम्र) होने से वहुत नफा है, सो नमने वाला कोई विरला होता है, क्योंकि हजूर (प्रत्यक्ष) हरि रूप हीरा का जो लाभ करता है, सोई नीचा होता है ॥ १५ ॥

रोड़ा ह्वै रह वाट का, तजि आपा अभिमान।
लोभ मोह तृष्णा तजं, ताहि मिले भगवान ॥ १६ ॥

रोड़ा भै तो क्या भया, पन्थी को दुख देह।
हरिजन ऐसा चाहिये, जस पैंड़े की खेह ॥ १७ ॥

खेह भया तो क्या भया, उड़ि उड़ि लागै अंग।
साधू ऐसा चाहिये, जैसा नीर निपंग ॥ १८ ॥

नीर भया तो क्या भया, ताता सीरा होय।
हरिजन ऐसा चाहिये, हरि ही जैसा होय ॥ १६ ॥

इसलिये ममता अभिमान को त्याग कर मार्ग का रोडावत हो रहो। इसी प्रकार जो लोभादि को त्यागता है उसको भगवान मिलता है ॥ १६ ॥ उससे भी आगे मार्ग को खेह तुल्य, फिर जल तुल्य और निपंग (निश्चल) उससे आगे हरि तुल्य हो रहो ॥ १७-१९ ॥

हरी भया तो क्या भया, कर्ता हर्ता होय।
हरिजन ऐसा चाहिये, हरि भजि निर्मल होय ॥ २० ॥

निर्मल भया तो क्या भया, निर्मल मांगै ठौर।
मल निर्मल सां रहित हैं, ते साधु कोइ और ॥ २१ ॥

मोती निपजे साप में, सीप समुन्दर माहिं।
कोइ मरजीवा काढसी, दूजा की गति नाहिं ॥ २२ ॥

हरि दरिया सुभर भरा, जामें मुक्ता लाल।
मरजीवा लै नीसरै, पहिरि छमा को खाल ॥ २३ ॥

फिर हरि भाव की आशा को त्याग कर हरि भजन करके निर्मल होना चाहिये ॥ २० ॥ उसके बाद निमल स्थानादि की इच्छा से रहित होने से मल निमल दोनों से रहित चिदात्मनिष्ठ होना चाहिये ॥ २१ ॥ परन्तु वह निष्ठारूप स्थिति मोक्ष है, सो इस देह रूप सीप में सिद्ध होता है, सो देह संसार समुद्र में है उसको जीवतमृतक ही काढेगा, अन्य की गति नहीं है (जीवन की गम नाहि) यह पाटान्तर है ॥ २२ ॥ सुन्दर भरा हुआ हरि दरिया में भी मुक्ता लाल है, उसे भी छमा खाल पहिर कर जीवतमृतक ही निकालता है ॥ २३ ॥

मैं मरजीवा समुंद का, पैठा सात पताल।
लाज कानि कुल छाड़ि के, गहि ले निकसा लाल ॥ २४ ॥

बुड़की मारी समुंद में, निकसे जाय अकाश।
गगन मण्डल में घर किया, हीरा पाया दास ॥ २५ ॥
ऊंचा तरुवर गगन फल, बिरला पंखी खाय।
इस फल को तो सो भखैं, जीवत ही मरि जाय ॥ २६ ॥
जब लग आश शरीर की, मिरतक हुआ न जाय।
काया माया मन तजै, चौड़े रहै बजाय ॥ २७ ॥

हरि या भव समुद्र का थदि मैं मरजीवा हूँ. और सात पताल (ज्ञान की सात अवस्था सात चक्र) तक पैठा (समझा) हूँ तो कुल की कानि और लाज को छोड करके ही ज्ञान रत्न लेकर निकला हूँ ॥ २४ ॥ समुन्द (हृदय) में ध्यान लगाया, और ब्रह्माण्ड में जा निकसा, फिर वहां ही घर करके दास हरि को पाया ॥ २५ ॥ ऊंचा तरुवर (मनुष्य देह) का गगन में जो फल होता है, उसको विरला जीव खाता है, जो कि जीवत मृतक होता है ॥ २६ ॥ परन्तु जब तक देह की आशा है तब तक जीवत-मृतक हुआ नहीं जा सकता, इसलिये काया की माया (आशामोह) को और मन को त्याग कर चौड़े (मैदान) विभु स्वरूप में वजाय कर स्थिर होवे । २७ ॥

मोहि मरने की चाव है, मरूं तो राम दुआर।
मति हरि पूछैं बातरी, दास मुआ दरबार ॥ २८ ॥
मोहि मरने की चाव है, मरूं तो राम दुवार।
की तनका कुटका करूं, की लै उतरूं पार ॥ २९ ॥

मूये को क्या रोइये, जो अपने घर जाय।
रोइय वन्दीवान को, हाटे हाट बिकाय ॥ ३० ॥

सुन्न [1]सहर में पाइया, [2]तहँ मरजीवा मन्न।
कबिरा चुनि चुनि ले गया, भीतर राम रतन्न ॥ ३१ ॥

१ सहज सुन्न । पा० ॥ २ जहं । पा० ।

मुझे मरने की इच्छा है, परन्तु राम के द्वार (उपाय) में मरूं, चाहे हरि वात भी नहीं पूछैं, परन्तु भक्त तो दरबार में मरा ॥ २८ ॥ राम के दरबार में मर कर (निरभिमानी) होकर चाहे देह को कुटका (सूक्ष्म) तनुमनसा का अभ्यास से करूं या इसे ज्यों का त्यों लेकर भी पार हो जाऊं तो भी ठीक है ॥ २९ ॥ फिर मूये को रोइये क्या कि जो अपने स्वरूप हृदय में जा रहा है, वन्धन वाला को रोना चाहिये, कि जो परवश होकर हाटे हाट विक रहा है ॥ ३० ॥ मरजीवा मन वाला तिस निज घर रूप सुन्न सहर में राम रतन पाया, और वह जीव भीतर ही चुन २ कर राम रतन को प्राप्त किया ॥ ३१ ॥

कबीर मरि मरघट गया, किनहूं न वूझी सार।
हरि आगे आदर लिया, गउ वच्छा की लार ॥ ३२ ॥
पैड़ा मांही पड़ि रहो, दुरवल मिरतक होय।
जिहि पैंड़े यम लूटिया, वात न पूछै कोय ॥ ३३ ॥

जीव मर कर मरघट में गया, परन्तु भक्ति ज्ञानादि विना कोई वात नहीं पूछता है। भक्त को भक्ति से हरि भी आगे से आदरपूर्वक लिया, जैसे कि गौ वछड़ा के पास आकर उसे साथ लेती है ॥ ३२ ॥ हरि मार्ग से भिन्न पैड़ा (मार्ग) में यदि तुम दुर्वल देह मृतकतुल्य होकर भी पड़ि रहो, तो जिन मार्गों में यम लूट चूका है, उन मार्गों मे फिर भी पड़े रहने से कोई भी बात नहीं पूछता है, इसलिये जीवत मृतक भी होओ तो राम द्वार में होओ, अन्यत्र नहीं ॥ ३३ ॥

इति जीवनमृतक का अंग ॥

अथ जींवन्मुक्ति का अंग ॥ ७० ॥

जीवत मुक्ता जो नहीं, मुये न मुक्ता होय।
मूये पाछे मुक्ति ह्वे, तो मुक्ता सब कोय ॥ १ ॥

जो जन जीवत मुक्त है, मुये मुक्त है सोय।
जो जन जीवत मुक्त नहिं, मुए मुक्ति कहँ होय ॥ २ ॥

नर पशु वड़े गमार हैं, परे भरम के फन्द।
कवीरा खग पक्षी भला, निसदिन रहत अवंध ॥ ३ ॥

मुक्ता वाँयें दाहिने, मुक्ता आगे पीठ।
मुक्ता धरनि अकाश में, मुक्ता मेरी दीठ ॥ ४ ॥

राग द्वेष मोहादि बन्धन से जो जीते जी मुक्त नहीं है, सो मरने पर मुक्त नहीं हो सकता, मरते समय रागादि से मुक्ति के साधन नहीं हो सकते, मरने पर लोकान्तरादि की प्राप्ति मुक्ति हो, तव तो सब मरने वाले मुक्त ही होते हैं, देहान्तरादि में सब जाते हैं, वर्तमान देहादि से छूटते हैं ॥ १ ॥ इससे जीवन्मुक्त ही विदेह मुक्त हैं, अन्य नहीं ॥ २ ॥ पशु तुल्य नर बहुत गमार हैं इससे भ्रम के बन्धन में पड़े हैं, उनसे तो आकशगामी पक्षी भला हैं, जो सदा निर्वन्ध हैं ॥ ३ ॥ वस्तुतः मुक्त स्वरूप ही आत्मा सब दिशा में है, और मेरी दृष्टि में है, अज्ञान जन्य जीव में बन्ध है, सो उसी के ज्ञान से जीतेजी नष्ट होता है इत्यादि ॥ ४ ॥

पीछे मुक्ता जव भया, पद मुक्ता निर्वान।
रूप मुक्ति तव जानिये, देखै दृष्टि पिछान ॥ ५ ॥
सब जग वन्धन बांधिया, साधू है निर्वन्ध।
राखै खड्ग जु ज्ञान का, काटत फिरै जु वन्ध ॥ ६ ॥
जाको दरशन इत अहै, ताको दरशन ऊत।
जाको दरशन इत नहीं, ताको ईत न ऊत ॥ ७ ॥

जीवन्मुक्त ही जब मरन के पीछे मुक्त हुआ तब उसका वह निर्वाण (मन आदि का लय) रूप मुक्त पद कहा जाता है, और स्वरूप सत्य मुक्ति तो तब ही समझिये कि जब स्वरूप को पिछान (विवेक कर) के फिर ज्ञानानुभव दृष्टि से देखता है (साक्षात्करता है), क्योंकि उसी समय अज्ञानादि बन्धन से विमुक्त होता है ॥ ५ ॥ सब संसारी अज्ञान बन्धन से बंधा है, और साधू (ज्ञानी) निर्बंध है, और ज्ञान का तरवार रखता है, उससे अन्य के बन्धन को भी काटता फिरता है ॥ ६ ॥ जिसको मुक्तस्वरूप का दर्शन यहां है, उसको वहाँ (मरने पर) भी है, जिसको यहां नहीं है, उसको कहीं नहीं है ॥ ७ ॥

इति जीवन्मुक्ति का अंग ॥

अथ मांसाहारी का अंग ॥ ७१ ॥

मांस अहारी मानवा, परगट राकस जानि।
ताकी संगति जनि करै, परत भजन में हानि ॥ १ ॥

मांस खाय ते ढ़ेंढ़ सब, मद पीवै सो नीच।
कुल की दुर्मति परिहरै, राम कहै सो ऊँच ॥ २ ॥

"यक्षरक्षःपिशाचान्नं मधुमांसं सुरासवम्" इत्यादि वचन प्रकृति के अनुसार मांसाहारी मनुष्य परगट (प्रत्यक्ष) राकस (राक्षस-प्रेतविशेष-पिशाच) हैं। उनकी संगति रामदर्शनेच्छु नहीं करे, क्योंकि उनकी संगति से भजन विचारादि में हानि होती है ॥ १ ॥ मांस खाने ही वाले वस्तुतः ढेंढ़ (चमार) हैं, और महापाप रूप मद (सुरा) पान करनेवाला नीच (महापापी) है, इसलिये यदि मांस भक्षण सुरापान कुल की दुर्मति रूप से प्राप्त हो, तो कुल की इन सब दुर्मतियों को त्यागै, और राम कहै (भजै) सोई ऊंच (श्रेष्ठ) है ॥ २ ॥

मांस मछलियाँ खात हैं, सुरा पान सो हेत।
ते नर जड़ से जाहिगें, ज्यों मूरी का खेत॥ ३ ॥

यह कूकर का भक्ष्य है, मनुष देह क्यों खाय।
मुख में आमिष मेलि हैं, नरक परे ते जाय॥ ४ ॥

मांस भखै मदिरा पिवैं, धन वेश्या सों खाय।
जूआ खेल चोरी करै, अन्त समूला जाय॥ ५ ॥

मांस मछलियां खात हैं, सुरा पान सो हेत।
ते नर नरके जाहिगें, माता पिता समेत॥ ६ ॥

मांस मछली खाने वाले और मद्य पान से (प्रेम) वाले एक दिन मूली के खेती के समान जर से नष्ट होंगे ॥ ३ ॥ यह मासादि कूकरादि क्रूर अशुची प्राणियों के भक्ष्य है, उनको वस्तुतः मनुष्य देही कैसे खा सकता है, वे मनुष्य मुख में मांस देकर नरक जा कर पड़ते हैं ॥ ४ ॥ जो मांस खाता हैं, मदिरा पीता है अथवा वेश्या से धन लेकर वेश्या के व्यापार से धन कमा कर खाता है, जूआ का खेल और चोरी रूप बड़ा पाप करता है, सो अन्त में मूल सहित नष्ट होता है ॥ ५ ॥ मांस भक्षणादि करने वाले संगादि के प्रभाव से माता पिता सहित नरक में जायगें ॥ ६ ॥

मच्छ कच्छ अवतार हैं, समुझत नहीं गमार।
सुर नर मुनि जिहि जपत हैं, हांन तिहि करै अहार॥ ७ ॥

ग्राह सिंह अवतार हैं, समुझत नहीं गमार।
सुर नर मुनि जाको जपत, ताका करत सिकार॥ ८ ॥

खुब खाना है खीचड़ी, माँहि परा टुक लोन।
मांस पराया खाय के, गला कटावे कौन॥ ९ ॥

ब्राह्मण राजा वरन का, औरो कौम छतीस ।
रोटी ऊपर माछली, [1]सबही वरन खवीस ॥ १० ॥

मच्छ कच्छप अवतार हुए हैं, उनको भी गमार नहीं समझता है, कि जिन स्वरूपों को देवादि जपते हैं, तिन स्वरूपों को भी मार कर आहार करता है ॥ ७ ॥ तथा वराह, नरसिंह स्वरूप को समझने विना शिकार करता है ॥ ८ ॥ खूब (सुन्दर पवित्र) भोजन की वस्तु खीचड़ी है कि जिसमें टुक (थोरा) लवन पड़ा हो । पराया का मांस खाकर गमार बिना अन्य कौन फिर बदले में गला कटावेगा ॥ ९ ॥ अन्य वर्णों के राजा ब्राह्मण तथा अन्य वर्ण और छतीस कौम सभी रोटी पर मछली धर कर खवीस (मुर्दा खोर-और प्रेम विशेष) हो गये हैं ॥ १० ॥

विष्ठा का चौका दिया, हांड़ी सीझै हाड़ ।
छूत बरावै चाम की, ताका गुरु है रांड़ ॥ ११ ॥
बकरी पाती खात है, ताकी काढ़ी खाल ।
जो नर बकरी खात हैं, तिन की कौन हवाल ॥ १२ ॥
आठ बाट बकरी गई, मांस मुला गै खाय ।
अजहूं खाल खटीक के, भिस्त कहाँ ते जाय ॥ १३ ॥
अंडा किन विसमिल किया, घुन किन किया हलाल ।
मछली किन जबहै करी, सब खाने का ख्याल । १४ ॥

विष्ठा (गोबर) का चौका देकर हांडी में हाड़ मांस सीझाता (पकाता) है, सो भी यदि चाम की छूति बराता (बचाता) है, तो उसका गुरु रांड है, अर्थात् वह स्त्री विवश मूर्ख के समान माया के वश में है ॥ ११ ॥ सचेत प्राणी के अपकार रहित बकरी के खाल काढ़ कर मांस खाने वालों की कठिन हवाल (दुर्दशा) होती है ॥ १२ ॥ अनुमन्ता आदि आठ को

---

१ सर्वे बरन गे खोस । पा० ॥

पापी बना कर बकरी मानो आठ बाट में गई (नष्ट हुई), मुल्ला उसके मांस खा गये, खटिक के घर में उसकी खाल अभी वर्तमान है, वहां मुल्ला जो कहते हैं कि जबह करने से बकरी को भिस्त मिलता है, उन्हें समझना चाहिये कि वह बकरी भिश्त कहां से कैसे जायगी ॥ १३ ॥ और अंडा को किसने बिसमिल किया है, तथा घुन का किसने हलाल किया है, मछली का कौन जबह कब किया हैं, ये बिसमिलादि का वर्णन खाने के ख्याल (विचार समझ) से मिथ्या ही है ॥ १४ ॥

कबीर काजी स्वाद वश, जीव हतै तब दोय।
चढ़ि मसीत एके कहै, दरगह सांचा होय॥ १५ ॥
काजी मुलना भरमिया, चले दुनी के साथ।
दिल सो दीन बिसारिया, करद लई जब हाथ॥ १६ ॥
काला मुँह करि करद का दिल से दुई निवार।
सबही रूह सुभान की, अहमक मुला न मार॥ १७ ॥

काजी स्वादवश जब जीवघात करता है, तब उसको दो दीखता है, और मसजीद पर चढ़ कर एक दयालु का वर्णन करता है, इसका दरगह (ईश्वर सभा) में सांचा विचार होगा॥ १५ ॥ दुनिया के साथ में काजी और मुल्ला भरमा है, दुनिया के साथ चलता है, इससे जब करद (छूरी) हाथ में लिया तब वह दीन (धर्म) दयादि को भूल गया और भूलता है ॥ १६ ॥ अब भी करद का मुख को काला करो (उसे त्यागो) दिल से द्वैतभाव को हटाओ, सब प्राणी को तुल्य समझो, क्योंकि सुभान (सर्वज्ञ खुदा) का ही सब रुह (जीव) हैं, हे नादान मुल्ला उन्हे नहीं मारो॥ १७ ॥

मोलना चढ़ै मनारै, अलख न बहिरा होय।
जिस कारन तूं बांग दे, सो दिल अन्दर जोय॥ १८ ॥
जोर करी जबहै करें, मुख सो कहै हलाल।
साहब लेखा मांगसी, तब की कौन हवाल॥ १९ ॥

जोर किये ते जुलुम है, मागैं ज्वाब खुदाय।
खालिक दर खूनी पड़ा, मार मुँहें मुँह खाय ॥ २० ।

मुलना मनारे (मिनार-ऊंच स्थान) में चढ़ कर अलख को पुकारता है, परन्तु वह अलख वहिरा नहीं होता कि जिसके लिये जोर से पुकारा जाय, और जिसको पुकारते हो, उसे दिल में ही देखो ॥ १८ ॥ उसे सव दिल में जानने विना वलात्कार से जवह करता है, और मुख से हलाल (पवित्र) कहता है। साहव जव इसका लेखा (हिसाव) मागेंगा, तव (उस समय) की कौन हवाल (दशा) होगी सो समझो ॥ १९ ॥ बलात्कार करने से यह काम जुलुम (अन्याय) है, इसका जवाव खुदा मांगेगा, फिर उस ईश्वर के दर (स्थान) में पड़ा (प्राप्त) खूनी मुँहे मुँह मार खायगा ॥ २० ॥

गला गुसा को काटिये, मियां कहर को मार।
जो पांचो विसमिल करै, तव पावै दीदार ॥ २१ ॥
गला काटि कलमा पढ़ै, कीया कहै हलाल।
साहव लेखा मांगसी, तव की कौन हवाल ॥ २२ ॥
काटी कूटी जो करै, यह पाखंडी भेष।
निश्चय राम न जानहीं, कहैं कबिर उपदेश ॥ २३ ॥

हे मियाँ! गुस्सा (क्रोध) के गला काट, कहर (जुल्म क्रूरता) को मारो, अविद्यादि सहित पांच इन्द्रिय को विसमिल करे तव दर्शन पावा है ॥ २१ ॥ प्राणी के गला काट कर कलमा (मन्त्र) पढ़ता है, और हलाल (पवित्र) किया कहता है। परन्तु जब साहब लेखा (हिसाव न्याय) पूछेंगे, तव कौन दशा होगी ॥ २२ ॥ जो प्राणी को काट कर कूटी (खंड २) करते हैं, उनका यह भेष पाखंडीका है, राम को निश्चय करके नहीं जानते हैं, यह उपदेश गुरु करते हैं ॥ २३ ॥

इति मांसाहारी का अंग ॥

———

अथ अमल अहारी का अंग ॥ ७२ ॥

भांग तमाखू छूतरा, सुरा पान सो खाहिं।
कहैं कबीर पुकारि के, निश्चय यमपुर जाहिं ॥ १ ॥

भक्त तमाखू ना भखै, भांग न तत्त्व विनाश।
प्रेमी पोस्ता ना भखै, कहैं कबीर चिन्हास ॥ २ ॥

जो नर इन अमलन रचे, नाम अमल न खाय।
कहैं कबिर यह चिन्ह है, देखा ठोक वजाय ॥ ३ ॥

मैं मतवाला नाम का, मद का माता नाहिं।
मदमतवाला जो फिरे, सो मतवाला नाहिं ॥ ४ ॥

कलियुग काल पठाइया, भांग तमाखू फीम।
ज्ञान ध्यान की सुधि नहिं, वसे इन्हीं की सीम ॥ ५ ॥

छूतरा (छूततर-अत्यन्त अपवित्र) सो भी सुरा जो पीते हैं, और अन्य मादक छूततर खाते हैं ॥ १ ॥ तत्त्व को नष्ट करने वाला भांग भी न भखै, चिन्हास (चिन्ह) ॥ २ ॥ रचे (प्रेम किये) ॥ ३ ॥ काल ने कलियुग में भांगादि को भेजा कि जिससे ज्ञानादि के होस नहीं रहा, इन भांगादि के ही सीम (सीमा वश) में वसते हैं ॥ ४–५ ॥

इति अमल अहारी का अंग ॥

अथ सांकट (निगुरा) का अंग ॥ ७३ ॥

सांकट का मुख बिंब है, निकसत वचन भुवंग।
ताकी ओषधि मौन है, विष नहिं व्यापै अंग ॥ १ ॥

मैं तोही को कव कहा, सांकट के घर जाव।
[1]गहिरी नदिया बूडि मरु, सांकट संग न खाव ॥ २ ॥

सांकट संग न बैठिये, अपनो अंग लगाय।
तत्त्व शरीरा झरि परै, पाप रहै लपटाय ॥ ३ ॥
सांकट संग न बैठिये, करन कुबेर समान।
ताके संग न चालिये, परिये नरक निदान ॥ ४ ॥
कबिरा सांकट की सभा, तू मति बैठे जाय।
सुमति गमावै गांठ की, देसी कुमति बताय ॥ ५ ॥

विंव (सर्प का विल) कूरादि सांकट का वचन भुवंग (सर्प) है, मौन से उसका दोष नहीं लगता है ॥ १ ॥ सद्गुरु ने कव कहा कि सांकट के घर जाना चाहिये, गंभीर नदी में बूड़ मरना अच्छा है, परन्तु पापी के साथ पाप का अन्न खाना अच्छा नहीं है ॥ २ ॥ अपनी अंग लगा कर सांकट के साथ नहीं वैठो, उससे विवेकादि तत्त्व शरीर से निकल जायगा, और पाप बुद्धि लिपट जायगी ॥ ३ ॥ कर्ण कुवेर तुल्य सांकट के संग और व्यवहार से भी निदान (अन्त) में नरक में पड़ता है ॥ ४ ॥ सांकट की सभा में सुबुद्धि नष्ट होगी, कुबुद्धि वह बतायगा ॥ ५ ॥

सांकट ब्राह्मण मति मिलो, वैष्णव मिलु चंडाल।
अंक भरी भरि भेंटिये, मानो मिले दयाल ॥ ६ ॥
सांकट सनका जेवरा, भींगे सो करराय।
दो अक्षर गुरु बाहरा, वांधा यमपुर जाय ॥ ७ ॥
सांकट हमरे कोउ नहिं, सबै वैष्णवा झारि।
संशय ते सांकट भया, कहैं कबीर विचारि ॥ ८ ॥
सांकट से सूकर भला, सोचैं सारा गाँव।
बूड़ो सांकट वापुरा, वाइस भरमी नांव ॥ ९ ॥

---

१ बहती नदिया ॥ पा० ॥

सांकट सूकर कूकरा, तीनों की मति एक।
कोटि यतन परमोधिये, तऊ न छाड़ै टेक॥ १०॥

हिंसक ब्राह्मण से नहीं मिलकर, अहिंसक चांडाल से मिलो, और अंक भर २ कर भेट करो कि मानो दयालु परमात्मा ही मिला॥ ६॥ सांकट सन के जेवरी (रस्सी) तुल्य ज्यों २ भींजता (जल तुल्य शान्त सज्जन से मिलता, वृद्ध होता) है, वढता है, त्यों २ क्रूर होता है, इसीसे वृहदारण्यक में वर्णित (अ. ५।२) प्रजापति के उपदेश रूप द अक्षर से रहित होता है, प्रजापति ने देव के लिये दम का, मनुष्य के लिये दान का, और असुर के लिये दया का एक द शब्द से उपदेश किया, सो सांकट नहीं सुनता है, न गुरु शब्द रूप दो अक्षर सुनता है, इसी से गुरु की आज्ञा से बाहर (अलग) रहता है, रामनाम नहीं जानता, इससे बांधा हुआ यमपुर जाता है॥ ७॥ सांकट (मांसाहारी शाक्तादि) हमारे किसी प्रकार के सम्बन्धी नहीं है, और वैष्णव सब प्रकार से सम्बन्धी है सो भी संशय से सांकट के समान अविवेकी हो गया है, यह विचार से समझने की बात है॥ ८॥ सम्पूर्ण ग्राम को शुचि साफ रखने वाला शूकर, सांकट से अच्छा है, जो कि सांकट हांड़ चामादि से अपना घर भी अशुचि करता है, इससे वह बपुरा सांकट तो नाव (समुद्र के जहाज) पर के बाइस (वायस-काग) के समान बूड मरे, अनन्त योनियों में भटके, उसकी चिन्ता क्या है॥ ६॥ क्योंकि सांकट सूकर कूकर इन तीनों की अभक्ष्य भक्षणादि में एक सी गति मति है, कोटि यतन से समझाने पर भी ये सब अपने टेक (कुटेव-आदत) को नहीं छोड़ते हैं॥ १०॥

निगुरा नर को तीन गुन, मोपा भरडा भांड़।
गत राड़ा की सेज पर, जहाँ पलोटै रांड़॥ ११।

गुरु विनु माला फेरता, गुरु विनु देता दाम।
गुरु बिनु सब निष्फल भया, बूझो वेद पुरान॥ १२॥

जो निगुरा सुमिरन करै, दिन में सौ सौ वार।
नगर नायका सत करै, जरै कौन की लार ॥ १३ ॥

निगुरा नर में तीन गुन रहते हैं, एक मोहादि मद्य का पान रूप मोपा (ममता), दूसरा भरा हुआ द्रव्यों का भांडा (पात्र), तीसरा जहां रांड़ (वेश्या आदि) पलोटती हैं, तहां उनके शय्या पर गत (प्राप्त) होना ॥ ११ ॥ इन गुणों से युक्त रह कर गुरु विना माला फेरता है, दान देता है, तो गुरु विना किया हुआ सब निष्फल होता है, सो वेद पुराणादि के ज्ञाताओं से पूछो समझो। भगवद्गीता अ० १७। १८ में श्रद्धा विना किये गये हवन दानादि को असत् (निष्फल) कहा गया है ॥ १२ ॥ किसी एक तत्त्व में दृढ़ श्रद्धादि रहित होने से निगुरा (गुरु द्वारा अलब्ध मार्ग) पुरुष यदि दिन में सौ २ वार अनेक का स्मरण करता है, तो नगर नायका (वेश्या) के समान वह सत् (स्मरणादि धर्म) करके भी किस के लार (साथ-पास) में मुक्त होगा ॥ १३ ॥

लाख नाम नित प्रति ले, नहीं सन्त से भाव।
कहैं कबिर वा दास की, परै न पूरा दाव ॥ १४ ॥

गुरू वतावैं साधु को, साधु कहै गुरु वूझ।
अरस परस की खेल में, भई अगम की सूझ ॥ १५ ॥

गर्भ योगेश्वर गुरु विना, लागे हरि के सेव।
कहैं कविर वैकुण्ठते, फेरि दिया सुकदेव ॥ १६ ॥

चाहे नितप्रति लाख नाम ले, परन्तु सन्त गुरु से भाव (प्रेम) नहीं हो, तो उस भक्त की भी पूरी दाव नहीं आती है ॥ १४ ॥ क्योंकि दीक्षा दाता गुरु भी सन्त की सेवा सत्संगादि को कर्तव्य समझाते हैं, और साधु जन गुरु से प्रश्नादि की रीति वताते हैं, फिर दोनों के साथ अरस परस की खेल (व्यवहार) में अगम तत्त्व की दृष्टि हुई और होती है ॥ १५ ॥

गर्भ के ही योगेश्वर (परमविरक्त जितेन्द्रिय) शुकदेव जी गुरु बिना सर्वात्मा हरि की ध्यानादि सेवा में लगे, परन्तु विश्वास नहीं हुआ इससे वैकुण्ठ (सुमेरु) पर से फिर भूमि में जनक जी के पास व्यास जी से लौटाये गये ॥ १६ ॥

दारुक में पावक बसै, घुनका घर किय जाय।
यों हरि संगे निगुर को, काल ग्रास ही खाय ॥ १७ ॥

पूरे को पूरा मिले, पूरा पड़सी दाव।
निगुरा तो कूवट चलै, जब तब करै कुदाव ॥ १८ ॥

जो कामिनि पड़दे रहै, सुनै न गुरुमुख बात।
सो तो होगी कूकरी, फिरै उघारै गात ॥ १९ ॥

दारुक (काष्ठ) में अग्नि के रहते भी वहाँ घुन घर करता है, अग्नि उस घुन से काठ की रक्षा नहीं करती है, क्योंकि वह अप्रकट है, तैसे हरि के संग में रहते भी निगुरा (अज्ञ) को काल ग्रासता और खाता है ॥ १७ ॥ इसलिये पूर्ण गुरु को जब पूरा शिष्य मिलता है, तब दाव पूरा पडती (रक्षा होती) है, और निगुरा कुमार्ग से चलता है, तब कुदाव (अनुचित) करता है, उसका ही फल भोगता है, पूर्ण नहीं होता है ॥ १८ ॥ गात (गात्र देह) ॥ १९ ॥

इति सांकट निगुरा) का अंग ॥

अथ पारख अपारख का अंग ॥ ७४ ॥

चन्दन गया विदेशरे, सब कोई कहैं पलास।
ज्यों ज्यों चूल्हे झोंकिया, त्यों त्यों अधिक सुवास ॥ १ ॥

पाय पदारथ पेलिया, कांकड लीन्हा हाथ।
जोरी बिछुरी हंस की, चला बुगां के साथ ॥ २ ॥

एक अचम्भा देखिया, हीरा हाट विकाय ।
परखनहारा वाहरा, कौड़ी वदले जाय ॥ ३ ॥

चन्दन के ज्ञान रहित देश में चन्दन गया तो सब कोई पलास कहने लगे, परन्तु ज्यों २ चूल्हे में झोंका त्यों २ अधिक सुगन्ध प्रकट हुआ। अर्थात् सन्त के पहचान रहित के समाज में ज्ञानी सन्त गये तो उन्हें समान मनुष्य समझ कर कष्ट में डाला, परन्तु सन्त वहां भी प्रसन्नता पूर्वक ज्ञान प्रदान किये, जैसे रहुगण राजा के पुरुषों से जड़ भरत कष्ट में डाले गये, परन्तु वे महात्मा उपदेश देकर राजा को कृतार्थ किये। श्रीमद् भागवत् स्क० ५ । १० में देखिये ॥ १ ॥ परन्तु अत्यन्त अज्ञ जीव पाये हुए भी हीरा आदि रूप पदार्थ को पैरों से ढकेल कर हाथ में कंकर लिया, फिर हंस की जोरी बिछुरी तब बक के साथ चला, अर्थात् कैकेयी राम का अनादर किया, राज्य लिया, फिर राम लक्ष्मण के वन जाने पर मन्थरा के साथ चली ॥ इसी प्रकार मनु के तप करने पर लक्ष्मी सहित भगवान प्रकट हुए, तब भगवत्प्राप्ति मुक्ति नहीं मांग कर पुत्र मांगा, फिर लक्ष्मी नारायण के लुप्त होने पर बक-वृत्ति समाज के साथ चले ॥ २ ॥ इससे एक आश्चर्य देखा कि ज्ञानादि रूप हीरा संसार में विकता है, सत्संगादि से मिलता है, तथा आत्मानन्दादि हीरा की यहाँ प्राप्ति होती है, परन्तु बकवृत्ति के संग रह कर परखने वाले उसकी प्राप्ति से वाहर (रहित) हैं, क्योंकि विषयादि रूप कौडी के बदले में वह हीरा जाता है, अर्थात् पुत्र राज्यादि का ग्रहण करके उसे त्याग देते हैं । ३ ॥

मान उन्मान न तोलिये, शब्दक मोल न तोल ।
मूरख लोग न जानसी, आपा खोयो वोल ॥ ४ ॥
कबीर गुदरी बीखरी, सौदा गया विकाय ।
खोंटा वांधा गाठरी, खरा लिया नहिं जाय ॥ ५ ॥

यह आत्मतत्त्व और उसके उपदेशादि रूप हीरा को मान (प्रमाण) इन्द्रियादि रूप उन्मान (तराजू) से नही तौलना चाहिये, क्योंकि इस शब्द

का मोल वा तौल (माप) नहीं है । मूर्ख लोग इस अमूल्य विभु तत्त्व को नहीं जानता है, इससे बोल (मिथ्या वाचारम्भणमात्र) में अपने स्वरूप को गमाता है, और गमाया है । यही कौड़ी बदले हीरा को जाना है ॥ ४ ॥ गुदरी (बाजार-हाट) बिखरी (उस में वस्तु बिकने के लिये फैलायी गई) अर्थात् सृष्टि हुई और इसमें प्रवृत्ति निवृत्ति मार्ग के व्यवहार विचार ज्ञान वस्तु सब प्रकट हुए, और सुन्दर २ सौदा बिका गये, । मुमुक्षु भक्त जन ज्ञान ध्यानादि की प्राप्ति किये, परन्तु जिसने खोटा गाठरी (विषय वासनादि) बांधा, धरा, उससे खरा (सत्य) लिया नहीं जा सकता है ।॥ ५ ॥

पैंड़े मोती बीखरी, अन्धा निकसा आय ।
जोंति बिना जगदीश की, जगत उलाड़ा जाय ॥ ६ ॥
जगत भुला जंजाल में, सुनि सुनि वेद पुरान ।
तन मन की कछु सुधि नहीं, बकि बकि मर हैरान ॥ ७ ॥
कबीर ये जग आंधरा, जैसी अन्धी गाय ।
बछरा था सो मरि गया, ऊभी चाम चटाय ॥ ८ ॥

सत्संग के मार्ग में ज्ञानादि मोती बिखरी है, परन्तु उधर अविवेकी आ निकला तो जगदीश की ज्योति (विवेक) बिना जगत में ही उलट कर जाता है, जैसे कि जगदीश की दी हुई नेत्र की जोति बिना अन्धा मनुष्य मार्ग में पड़ी हुइ मोती को नहीं लेकर खाली घर को जाता है ॥ ६ ॥ वेद पुराणादि को सुन २ कर भी अज्ञ जीव संसार के जंजाल (विस्तार मोह) में भूला है, तन मन के अन्दर वर्तमान साक्षी स्वरूप की कुछ भी सुधि (ज्ञान) नहीं रहने से व्यर्थ बक २ कर हैरान हो कर मरता है ॥ ७ ॥ ये संसारी ऐसे अन्धे हैं, जैसे गाय अन्धी (अज्ञ) होती है, इसीसे उसके बछड़े के मरने पर भी ऊभी (खडी) होकर चाम चाटती है, और दूध देती है, ऐसे ये साक्षी के ज्ञान बिना जड से आनन्दित होते हैं ॥ ८ ॥

नाम[1] रतन धन पाइ कर, गांठी बांधि न खोल ।
नहिं पाटन नहिं पारखी, नहिं गाहक नहिं मोल । ९ ।

नाम[2] पदारथ समुझि में, खानि खुली घट माहिं ।
सेती[3] में तिहि देत हौं, गाहक कोऊ नाहिं ।। १० ।।

जहँ गाहक तह मैं नहीं, मैं तहँ गाहक नाहिं ।
परिचय बिनु फूला फिरै, पकरै सब की छाँहि ।। ११ ।।

अनजाने का कूकना, कूकर का सा सोर ।
ज्यों अँधियारी रैन में, साह न चीन्है चोर ।। १२ ।।

नाम (सत्योपदेश ज्ञान) रूप रतन धन पाकर सर्वत्र उसे नहीं खोलो, उसकी चर्चा नहीं करो, क्योंकि सर्वत्र उसके पाटन (पत्तन बाजार) पारखी, गाहक और मोल नहीं है ।। ९ ।। नाम रूप पदार्थ को समझने से ही मेरे मन में घट में उसकी खानि (आकर) खुली (प्रकट हुई) है, उसको मैं सबको सेती (मूल्य विना) देता हूं, तो भी इसके कोई ग्राहक नहीं है ।। १० ।। यह संसारी जहां गाहक है (जो चाहता है) तहां विषयादि में मैं नहीं हूँ, और जिस साक्षी स्वरूप में मैं हूँ तहां (उसका) गाहक नहीं है, इससे आत्म परिचय बिना विषयादि के लाभ मात्र से फूला (गर्वमुक्त) फिरता है, और देवादि सब की छाया (शरण) को पकडता है (पकरि शब्द की बांहिं) यह पाठान्तर है ।। ११ ।। अनजान (अज्ञ) का बोलना कूकर के समान सोर (हल्ला) करना है । जैसे अन्धेरे में चोर साधु को पहचाने विना रात में कुत्ता भूकता है, तैसे आत्मज्ञ आत्मा को पहचाने बिना अज्ञ भूकता है ।। १२ ।।

नैन न जानै प्रेम सो, वरे न कीया सैन ।
अलख पुरुष ही ना लखा, खाक पड़ो यह नैन ।। १३ ।।

---

१ राम । २ राम रतन धन मुक्ति मे । ३ सेती मेती देत हौं । पा० ।।

नैना सोई जानिये, जाके हिये विवेक।
नैन खोंट तब जानिये, साहब को नहिं देख ॥ १४ ॥

सागर मणि माणिक भरा, चिन्हत नाहीं कोय।
माणिक को तो सो लखै, जाको गुरु गम होय ॥ १५ ॥

कहैं कबिर कासे कहौं, यही जगत है अन्ध।
सांचे सो भागा फिरै, है झूठे को बन्द ॥ १६ ॥

कुछ विवेकादि नैन (नेत्रवाला) भी यदि ज्ञानी गुरु राम को प्रेम से नहीं जानता है, तो वर (सर्वात्मा स्वामी) में समाधि निन्द से शयन नहीं किया, इससे अलख पुरुष को साक्षात् नहिं लखा तो इस नैन में खाक पड़ो (यह व्यर्थ है) ॥ १३ ॥ नैना (नेत्रयुक्त) सोइ पुरुष को जानना चाहिये कि जिसके हृदय में पूर्ण विवेक हो, उस नैन को तब खोंट (दोषी) जानना चाहिये कि जब साहब को नहीं देखता हो ॥ १४ ॥ संसार सागर में विज्ञानी ब्रह्मात्मारूप मणि माणिक भरे है, परन्तु कोई अज्ञ नहीं चीन्हता है माणिक को वही समझ सकता है कि जिसको गुरु से गम (विवेकादि) प्राप्त हो ॥ १५ ॥ अन्ध (अज्ञ-अविवेकी), साचे (सद्गुरु-ज्ञानी) बन्द (बन्दा-दास) ॥ १६ ॥

जीव जन्तू जलहर बसैं, गये विवेक भुलाहि।
जल के जलहर यों कहैं, हम उडुगणपति आहि ॥ १७ ॥

प्रात काल के जाल में, आय गये तिहि माहि।
जल के जलचर उडुपती, उडुगन आये नाहि ॥ १८ ॥

कबीर खांडहि छाडि कर, कंकर चुनि चुनि खाय।
रतन गमावै रेत महँ, फिर पाछे पछताय ॥ १९ ॥

सुख का सागर छाड के, दुखदुख मेलै पाँव।
साधु वचन मानै नहीं, चले रंक अरु राव ॥ २० ॥

जलहर (जलजीवी) जीव जन्तु जल में बसते हैं, और तारा गन तथा चन्द्रमा भी जल में प्रतिबिम्ब रूप बसते हैं, तहाँ जल जन्तु सब विवेक भूल गये हैं, इससे कहते हैं कि हम भी उड़गण पति चन्द्र है, क्योंकि जल में दोनों बसते हैं, अर्थात् अज्ञ जीव अपने तुल्य ही ज्ञानी ईश्वर को भी समझते हैं ॥ १७ ॥ परन्तु प्रातःकाल में व्याधा जाल बिगा, तब उस में जल चर सब आ गये, परन्तु उस जाल में तारा चन्द्रमा नहीं आये, अर्थात् मरने पर अज्ञ कर्म कालादि के वशी हुए, ज्ञानी भक्तादि नहीं हुए ॥ १८ ॥ विवेक विना अज्ञ जीव ज्ञानादि खांड़ को त्याग कर विषयोपार्जन करके भोगता है, आत्मरत्न को देह में छिपाता है, परन्तु फिर पाछे पश्चात्ताप करता है ॥ १९ ॥ सुख का सागर ब्रह्मात्मा को छोड़ कर कर्मादि रूप दुःख में मन लगाता है, साधु बचन को नहीं मान कर संसार में रंक राजा सब चलता है ॥ २० ॥

अमृत केरी पोटरी, सिर सो धरी उतारि।
जासो मैं एके कहौं, सो मोसो कह चारि ॥ २१ ॥

जिन जाना तिहि निकट है, रहा सकल भरि पूर।
कविर जानिये वाहिरे, नियरे ही ते दूर ॥ २२ ॥

शेख मोजायक मुनियत्ति, पीर औलिया झारि।
वड़पन चाहैं आपना, मरैं पुकारि पुकारि ॥ २३ ॥

वैंठी मुसली सिर धुनैं, धरैं रोजा भरि चन्द।
दिल वेदिल जानै नहीं, सो दिल मूसल चन्द ॥ २४ ॥

ब्रह्मात्मा रूप अमृत की पोटरी को सद्गुरु ने मानो शिर से उतार कर उपदेश रूप में रखा है, परन्तु आश्चर्य है कि जिसको मैं एक ही अमृत (नित्यमुक्त) वस्तु कहता हूँ, सो मुझे चार मोक्ष ईश्वरादि की कथा सुनाता है ॥ २१ ॥ जिन्होंने समझा है, उनके पास में ही वह एक अमृत

है, क्योंकि वह सब में व्याप्त है, यदि उसे बाहर लोकान्तरादि में समझा जाय, तो नियरे होते भी दूर है ॥ २२ ॥ और दूर होने ही से शेखादि सब अपना २ बडप्पन चाहते हैं, और पुकार २ कर मरते हैं ॥ २३ ॥ मुसली (मुसलमानों की स्त्री) भी बैठकर सिर धुनती है, तथा चन्द्र दर्शन पर रोजा धरती (करती) है, परन्तु उसका दिल बेदिल (दोष) को नहीं समझता है, इससे उसका वह दिल मूसलचन्द (महा स्थूल है) ॥ २४ ॥

सार न बूझै मनमुखी, बाम विचच्छन चोर।
सब दुनियाँ जहड़े गई, हटा न मानै मोर ॥ २५ ॥

अपने अपने सीर पर, सबह्नि लीन्हा मान।
हरि की बात दूरी परि, काहु न लीन्ही जान ॥ २६ ॥

पायो पर पायो नहीं, हीरा हड्डी मार।
कहैं कबिर योंही गया, पारख विना गमार ॥ २७ ॥

हंसा तो महरान का, आया थलिया माहिं।
बगुला करि करि मारिया, मरम जु जानै नाहिं ॥ २८ ॥

मनमुखी (मनोवशवर्ती) मनुष्य सार शब्द तत्त्व को नहीं बूझता (समझता) है, इससे वाममार्गी विचच्छन (चतुर) चोर होता है, इससे सब दुनियाँ जहड़े (धोखे) में गया, कोई सद्गुरु का हटा (निवृत्ति का उपदेश) को नहीं मानता है ॥ २५ ॥ सब अपने २ शिर पर किसी को मान लिया है, इससे सर्वात्मा हरि की बात दूर में पड़ गई, किसी ने जाना नहीं ॥ २६ ॥ हरि रूप हीरा को बहुत मनुष्य पाया भी (समझा भी), परन्तु हड्डी (तुच्छ विषय उसकी हिर्स-इच्छा तृष्णा) को मारकर यथार्थ रूप से नहीं पाया, इससे गमार मनुष्य पारख विना यों ही (व्यर्थ ही) मर गया ॥ २७ ॥ महरान (महाऽरण्य-मानस) का हंस किसी प्रकार भूमि स्थल में आ गया, तो भेद जानने विना लोग बक समझ कर मारने लगे, अर्थात्

विवेकी परमहंस लोग भी अज्ञ समाज में मारे जाते हैं, जैसे कि शुक-देवजी को बालक सब मारते थे, और कबीर साहब कसनी पाये थे ॥ २८ ॥

हंस बगा का पाहुना, कोइ एक दिन का फेर।
बगुला काहे गरबिया, बैठा पंख बिखेर ॥ २९ ॥

बगुला हंस मनाय ले, नीरा रुका बहोर।
या बैठा तूं ऊजला, तासो प्रीति न तोर ॥ ३० ॥

कोइ एक दिन के फेर से किसी आपत्ति आदि काल में हंस बक का पाहुन (अतिथि) हुआ, तो बक गर्व किया और पांख फैलाकर बैठा ही रह गया, सत्कार नहीं किया, सो क्यों, अर्थात् जंगलादि के निवास योग्य परम-हंस यदि संसारी के पाहुन हुए तो वह अज्ञान से ही अनादर करता है ॥ २९ ॥ बकुला को उचित है कि सत्कार करके हंस को मनाय ले, और अपने नीरा (नीड़-वासस्थान) में फिर उसे रोक कर रखे, क्योंकि इस हंस के बैठने से तुम ऊज्जवल (पवित्र) हो, उससे प्रीति नहीं तोरो, परमहंसों के सत्कार से संसारी पवित्र होते हैं, इससे आगन्तुक सन्त को मकान पर रख कर सेवा करना उचित है ॥ ३० ॥

जब गुन को गाहक मिलै तब गुन लाख विकाय।
जब गुन को गाहक नहीं, कौड़ी बदले जाय ॥ ३१ ॥

हीरा[1] बनिजै जौंहरी, लै लै माडां हाट।
जब हि मिलेगें पारखी, तब हीरों की साट ॥ ३२ ॥

श्रुति सनेहि साधू मिले, मिलि मिलि करै विचार।
बोले पीछे जानिये, जो जाके व्यवहार ॥ ३३ ॥

प्रकाशादि गुणवान् हीरा आदि पदार्थ का गुण के गाहक जब मिलता

१ हरि हीरा जन जौहरी । पा० ॥

है, तव गुणवान लाखों में विकता है, नहिं तो गाहक विना कौड़ी के वदले में भी जाता है ॥ अर्थात् शमदमादिमान परमहंस विवेकी से सत्कृत और अन्य से अनाहत होते हैं ॥ ३१ ॥ क्योंकि जैसे हीरा व्यवहार जौहरी ही करता है, और ले २ कर हाट में मांडता (साजता) है, और वहाँ जव पारखी मिलेंगे तभी हीरों की साट (मूल्य) होगा, अन्यथा नहीं, तैसे सज्जन महात्मा भक्त अपने २ शमादि गुणों का संपादन करते हैं, उन गुणों का आदरादि विवेकी ही कर सकता है, अन्य नहीं ॥ ३२ ॥ श्रुति (वेद-सुरति-ध्यान और ज्ञान) के प्रेमी जव सन्त परस्पर मिलते हैं, तब मिलकर अध्यात्म विचार करते हैं, तहाँ वोलने के वाद लौकिक व्यवहार भी जाना जाता है कि जो व्यवहार जिसका रहता है, (श्रुति सनेही के संशय नही) पाठान्तर है, उसका संशय रहित अर्थ है ॥ ३३ ॥

मेरी वोली पूरवी, ताहि न चीन्है कोय ।
मेरी वोली सो लखै, धूर्व पूर्व का होय ॥ ३४ ॥
मैं तो सवही की कही, मेरी कोइ न जान ।
पूरव की वातें करौं, पच्छिम जाय समान ॥ ३५ ॥
कवीर देखि परखि ले, परखि के मुखा वुलाय ।
जैसी अन्दर होयगी, तस मुख निकसै धाय ॥ ३६ ॥

मेरी (सद्गुरु की) वोली पूर्वी (पूर्व वर्तमान कारण के वोधक) है, उसको कोई चिन्हता नहीं है, मेरी वोली को वह समझेगा, कि जो धूर्व (ध्रुव-निश्चित-शाश्वत) पूर्व (कारण) का जिज्ञासु अधिकारी होगा ॥ ३४ ॥ मैंने तो सव की आत्महित की वात कही है, परन्तु मेरी वात को कोई जानता नही हैं, इससे मैं पूर्व (कारण) की बात करता हूँ, और सब पश्चिम (कार्य) में समाया जाता है ॥ ३५ ॥ इसलिये प्रथम मनुष्य को आंख से देख कर चाल व्यवहार से उसका पारख कर लो, तव मुख से वोलावो, फिर जैसी वासना अन्दर होगी तैसी मुख से दोड़ कर निकलेगी ॥ ३६ ॥

जो जैसा उनमान का, तैसो तासों बोल।
पोता को गाहक नहीं, हीरा गांठि न खोल ॥ ३७ ॥
सहज तराजू आनिकर, सब रस देखा तौल।
सब रस माहिं जीभ रस, जो कोइ जानै बोल ॥ ३८ ॥
पहिले शब्द पिछानिये, पीछे कीजै मोल।
पारख परखै रतन को, शब्द का मोल न तोल ॥ ३९ ॥

जो मनुष्य जैसा उन्मान (तौल-योग्यता) का है, उससे ऐसी ही बात बोलो, और जो पोता (कांच की माला) का भी गाहक नहीं है, सद्धर्म दया दानादि का उचित लोक व्यवहार का भी ग्राहक (जिज्ञासु) नहीं है, उसके आगे शाश्वत आत्म रत्न रूप हीरा के गांठि को नहीं खोलो ॥ ३७ ॥ सहज स्वभाव धारणा रूप तराजू ला कर सब रस (स्वाद गुण) को तौल कर देखा, तो सब रस में उत्तम जीभ का रस (शब्द) को देखा, यदि कोई बोलना जाने ॥ ३८ ॥ इसलिये प्रथम शब्द को विवेक पूर्वक समझिये, फिर उसका मोल करिए, क्योंकि पारख से जिस रतन को परखता है उसका तो मोल तोल है, परन्तु जान कर बोला गया ज्ञानी के शब्द का मोल तोल नहीं है, वह अमूल्य अगाध है ॥ ३९ ॥

राम रसायन प्रेम रस, अमरित शब्द अपार।
गाहक बिना न नीकसै, मानिक कनक कोठार ॥ ४० ॥

हरि हीरा मन[1] में हटा, पट्टन प्राण सुघट्ट।
गाहक बिना न खोलिये, हीरा केरी हट्ट ॥ ४१ ॥

हीरा तहां न खोलिये, जहँ खोटी है हाट।
कसि करि गांठी बांधिये, चलिये अपने बाट ॥ ४२ ॥
एक ही वार परखिये, ना वह बारंबार।
बालू तौहूं किरकिरी, जो छानै सौ वार ॥ ४३ ॥

---
१ सन मेहटा । पा० ॥

सर्वात्मा राम रसायन (परमानन्द परप्रेम का आश्रय स्वरूप और विषय) हैं, प्रेम रस है, अपार अमृत रूप उस राम के बोधक शब्द है, उस शब्द रूप ही माणिक और कनक का कोठार (भंडार) ग्राहक विना नहीं निकलता है ॥ ४० ॥ हरि रूप हीरा का मन में प्रकट हटा (हाट-दुकान) है, और उस हाट का आश्रय रूप प्राण सुघट्ट (सुमार्गादियुक्त) पट्टन (पत्तन-नगर) है, उक्त हाट को तहां नहीं खोलो कि जहां ग्राहक नहीं हो ॥ ४१ ॥ खोटी (मिथ्या) वस्तु के हाट में भी हीरा नहीं खोलो, कस कर हृदय में रख कर अपने मार्ग में चलो ॥ ४२ ॥ और हीरा के अनधिकारी को एक बार ही अच्छी तरह समझ लो, वालू को सौ वार छानने चालने पर भी उस में किरकिराहट रहेगीही ॥ ४३ ॥

राम रतन धन कोठरी, गाहक आगे खोल ।
जबहिं मिलेगा पारखी, लेगा महँगें मोल ॥ ४४ ॥

तन मंजूस[1] मन रतन है, चुपकी दे हट ताल ।
गाहक विनु नहिं खोलिये, कुञ्जी शब्द रसाल ॥ ४५ ॥

हरि हीरा मन जौंहरी, परखि निरखि हिय लेत ।
लें लुहार करि गहन में, ज्ञान चोट घन देत ॥ ४६ ॥

हरि मोतिन की माल है, पोया कांचे धाग ।
यतन करो झटका घना, टूटेगी कहुँ लाग ॥ ४७ ॥

रामस्वरूप रतन धन की कोठरी (विचार-बचन) को योग्य ग्राहक (जिज्ञासु) के आगे प्रकट करो, जब विवेकी मिलेगा, तब महंगे मोल (प्रेम आदर) से लेगा । (कोठरी के मोटरी) पाठान्तर है ॥ ४४ ॥ तन रूप मञ्जूषा (पिटक-पेटी) में मन (ज्ञान-बुद्धि-साक्षी) स्वरूप रतन है, तहाँ चुपकी रूप ताला देकर वहां से हट जाओ (देहाभिमान को छोड़ दो)

१ सन्दूख । पा० ॥

उसके रखाल शब्द कुञ्जी है, उससे भी गाहक बिना पेटी को नहीं खोलो (कुञ्जी के पुञ्जी) पा० ॥ ४५ ॥ हरि रूप हीरा को मन रूप जौंहरि से परख कर, हृदय को लुहार करके विचार गहन (कठिन अहरन) पर ज्ञान घन के चोट दे कर, देख कर लेने वाले लेते हैं ॥ ४६ ॥ हरि मोतियों की माला तुल्य है सो कांचे धागा तुल्य देह मन में पोया (प्राप्त-अनुभूत) है, और यहाँ झटका घना है, इसलिये यतन करो कि कहुँ लग कर टूटे नहीं ॥ ४७ ॥

पारख कीजे साधु की, साधु ही परखै कौन।
गगन मंडल में घर करै, अनहद राखै मौन ॥ ४८ ॥

ज्ञानी जन है जौंहरी, करमी सकल मजूर।
देह भाव का टोकरा, तिन के शिर भरपूर ॥ ४९ ॥

होहू जौहरी जगत में, घटकी आँखी खोल।
तुला समारि विवेककी, शब्द जवाहिर तौल ॥ ५० ॥

साधु की पारख करो कि साधु निश्चय (सत्य) बुद्धि से कौन वस्तु को परखता है, और वह गगन महल में घर करता है, तथा अनहदात्मा को गुप्त रखता है ॥ ४८ ॥ ज्ञानी जन आत्म रतन के जौहरी हैं, सब कामी कर्मी मजदूर हैं, और देह में आत्मभाव की टोकरा तिन के शिर पर वासनादि से भर कर वर्तमान हैं। (देह भार का लिये शीस। तिन के सिर पर धूर) पाठान्तर है ॥ ४९ ॥ जगत में जौंहरी (ज्ञानी) होओ, हृदय की विवेक दृष्टि को खोलो, फिर विवेक की तुला बना कर सार शब्द रूप जवाहिर (रत्न) को तौलो (प्राप्त ज्ञात करो)। कबीर जग के जौंहरी) यह प्रथम चरण का पाठान्तर है ॥ ५० ॥

हीरा परखै जौंहरी, शब्द हि परखै साध।
कबीर परखै साधु को, ताका मता अगाध ॥ ५१ ॥

हड्डि मारि हीरा लहा, नौ करोड़ को हीर।
जा मारग हीरा लहा, सो क्यों तजे कबीर॥ ५२॥
लालहि जोति अपार है, सिन्धु माहिं बलते दिये।
मोल तोल की गम नहीं, नौ करोड़ दशके किये॥ ५३॥

गुरु आत्मस्वरूप हीरा को विवेकी परखता है, और सार शब्दादि को चतुर ज्ञानी सन्त परखते हैं, जो उस साधु को भी परखता है, उसकी बुद्धि अगाध रहती है ॥ ५१ ॥ हड्डी मार कर (तप गुरुशुश्रूषा आदि से देह को गला कर-काम तृष्णादि को त्याग कर) जो नव द्वार के प्रकाशक होने से मानो नव करोड के है, उस हीरा को जिस मार्ग से लाभ किया गया, उस मार्ग को विवेकी प्राणान्त तक कैसे त्याग सकता है, अर्थात् जिज्ञासु जीव प्रथम ज्ञान प्राप्ति के लिये गुरु आदि की भक्ति करता है, पीछे कृतघ्नता की निवृत्ति के लिये भक्ति करता है, सो अन्यत्र प्रसिद्ध है (हड्डि मारि के हरि मारग) पाठान्तर है, सोई प्रसंगानुसार है ॥ ५२ ॥ यद्यपि आत्माराम लाल (रत्न) की जोति अपार है, जिससे शरीर और संसार समुद्र में अनन्त दिये (दीप) जलते हैं, इससे उसका मोल तोल के गम नहीं है, परन्तु दश इन्द्रियों द्वार के किये गये नौ करोड मूल्य कहे गये हैं ॥ ५३ ॥

जो हंसा मोती चुगै, कंकर क्यों पतियाय।
कंकर माथा ना नँवै, मोति मिले तो खाय॥ ५४॥

मोती है बिनु सीप का, जगर मगर उजियार।
कहैं कबिर तब पावई, भोजन मिले हमार॥ ५५॥

काया माहिं कबीर है, ज्यों पुहुपन में बास।
कै जानै कोइ जौंहरी, कै जानै कोइ दास॥ ५६॥

गायन के मैं मुख वसौं, श्रोता के वस कान।
ज्ञानी के हिरदै वसूं, भेदी का निज प्राण॥ ५७॥

जो विवेकी आत्मज्ञान पाया, सो विषय में सत्यादि बुद्धि कैसे करेगा, वह विषयादि के लिये या विषय के प्रति शिर नहीं झुकायेगा, मोती ही मिलने पर खायेगा (आत्मानुभव चिन्तन ही करेगा) ॥ ५४ ॥ वह आत्म-मोती सीप के बिना (निराधार) है, सो जाग्रदादि जगत के मार्गावस्था में भी उजियार (प्रकाश) करता है, परन्तु जब मनुष्य को हमारा विवेकादिमय शुद्ध आहार मिले तब उस मोती को पाता है (आहारशुद्धौ सत्त्व-शुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः) इत्यादि छान्दोग्य श्रुति का बचन है ॥ ५५ ॥ देह में ही कबीर (आत्मा गुरु) है. जैसे पुष्प में वास रहता है, परन्तु इस बात को क्या तो शुद्धाहारादि वाला विवेकी जानता है, नहीं तो कोई भक्त जानता है ॥ ५६ ॥ गायक (वक्ता) के मुख में, श्रोता के कान में, ज्ञानी के हृदय में, भेदी भक्त के प्राण में मैं (सर्वात्मा गुरु) बसता हूँ ॥ ५७ ॥

सुरति बाँधि हंसा चला, पलक न लावै नैन।
जहाँ पलक तहँ काल हैं, सुनो हंस सुख बैन ॥ ५८ ॥

बैन कहौं हंसा सुनो, बहुत सुरति चित लाय।
बहुत हंस परमोधिया, बिरला पहुँचे आय ॥ ५९ ॥

भवसागर में काग है, कोइ कोइ हंस हमार।
सुरति करै सतलोक की, छाड़ि भरम का भार ॥ ६० ॥

हंसा सिंहल द्वीप का, उड़ि आया परदेश।
रतन पवारी ना चुंगे, सुमिरै अपना देश ॥ ६१ ॥

मैं गायनादि के मुखादि में बसने वाला साक्षी स्वरूप हूँ, उसमें ध्यान बांध कर जो विवेकी चला, सो उस विवेकी नेत्रमें पलक नहीं लाता है, निरन्तर ध्यान रखता है, क्योंकि जहां पलक है, तहां ही काल (मृत्यु) है, हे हंस ! यह सुख की बात सुनो ॥ ५८ ॥ गुरु रूप से जो बात मैं कहता

हूँ उस बात को चित्त में बहुत ध्यान लगा कर सुनो, बहुत जीव को समझाने पर भी बिरला ध्यान ही वाला तत्त्व पर आ पहुँचा ॥ ५९ ॥ प्रायः भवसागर में काक वृत्ति वाले अशुद्धाहारी जीव हैं, कोई २ शुद्धाहारी विवेकी हमारे हंस हैं, जो कि ससार के भ्रम का भार को छोड़ कर सत्य स्वरूप लोक (दर्शन-प्रकाश) की सुरति (ध्यान) करते है ॥ ६० ॥ सो ध्यान करने वाले मानो सिंहल द्वीप के हंस है (ब्रह्मानन्द के अधिकारी जीव हैं) किसी कर्मवश परदेश (देह) में उड़ कर आ गये हैं, उनके आगे यहाँ के रत्न भी पवारी जाय (दिया जाय) तो उसे नहीं चुंगते हैं, यहाँ की सम्पत्ति आदि से तृप्त नहीं होते हैं, किन्तु अपना देश (स्वरूप) का स्मरण करते हैं ॥ ६१ ॥

हंसा देश विदेश का, परे कुदेशे आय।
जाका चारा मोति है, घोंघी क्यों कर खाय ॥ ६२ ॥

उत्तर दखिन पूरब पछिम, चार दिशा परमान।
उत्तर दिशा कवीर का, अमरा पुर अस्थान ॥ ६३ ॥

विशेष सुदेश का अधिकारी जीव यदि कर्म वश कुदेश में भी आ परे, तो जिसका मोती भोजन है, सो घोंघी कैसे खायेगा, अर्थात् कुसङ्ग में भी विवेकी देहासक्त भोग परायण नहीं होकर आत्मविचारादि करेगा ॥ ६२ ॥ इस देह में भी उत्तरादि चार दिशा प्रामाणिक हैं, उस में उत्तर दिशा (हृदय) कबीर का (ज्ञानी का) है, वही अमरापुर स्थान है, वहां ही की स्थिति विचारादि से अविनाशी मोक्ष स्थान प्राप्त होता है। (उत्तम देश) यह पाठान्तर है, तब दिशा के प्रसिद्ध अर्थ उत्तम देश आत्मा हैं जो सब देवपुरादि का भी अधिष्ठान है, ॥ ६३ ॥

इति पारख अपारख का अंग ॥

———

अथ निन्दा का अंग ॥ ७५ ॥

लोग बेचारा निन्दहिं, जिन नहिं पाया ज्ञान।
राम नाम जानै नहीं, सेवै आनहि आन ॥ १ ॥

दोष पराया देखिके, चलै हसन्त हसन्त।
आपन याद न आवई, जाको आदि न अन्त ॥ २ ॥

तिरनहुं कबहु न निन्दिये, पाँव तले है जोय।
कबहुंक उड़ि आंखिन परे, पीर घनेरी होय ॥ ३ ॥

आपन पौ न सराहिये, और न कहिये रंक।
क्या जानों किहि रूखतर, कूरा होय करंक ॥ ४ ॥

जिन लोगों ने देश कालादि तथा आत्मा का ज्ञान नहीं पाया है, वे लोग ऊन बेचारे (असमर्थ-दीन) की निन्दा करते हैं, और राम नाम को नहीं जानने से आन ही आन (अनात्मा) को सेवते हैं ॥ १ ॥ अन्य के दोष को देख कर हंसते २ चलते हैं, और अपना रागद्वेष मोहादि रूप दोष याद नहीं आता है कि जिसका आदि अन्त नहीं होने से अनादि अनन्त है ॥ २ ॥ वस्तुतः तृण की भी निन्दा नहीं करना चाहिये जो कि पाँव के नीचे है, क्योंकि वह भी यदि कभी उड़ कर आँखों में परे तो बहुत पीड़ा हो सकती है, अर्थात् अपने वशवर्ती दीन की भी निन्दा नहीं करनी चाहिये, निन्दा से प्रतिकूल होने पर वह भी बहुत हानि कर सकता है ॥ ३ ॥ आपन पौ (अपनी आत्मा-देहादि) को न सराहिये (प्रशंसिये नहीं) और अन्य को रंक (दरिद्र) कह कर अपमानिये नहीं, क्योंकि क्या जाना जाता है कि किस वृक्ष तर कूरा (धूलि) करंक (अस्थिपञ्जर) हो जायगा (कोमल कठिन बनेगा) अर्थात् वह दीन भी कर्माधीन कभी सुखी हो सकता है, हीन भी उत्तम होता है, और उत्तम हीन होता है ॥ ४ ॥

आपन को न सराहिये, पर निन्दिय नहिं कोय।
चढना लम्बा धौहरा, ना जानौ क्या होय ॥ ५ ॥

कबीर आप ठगाइये, और न ठगिये कोय।
आप ठगे सुख ऊपजे, और ठगे दुख होय ॥ ६ ॥

अपनी प्रशंसा और अन्य किसी की निन्दा नहीं करना चाहिये, क्योंकि अभी लम्बीं धौहरा (उच्च स्थान) पर चढना बाकी हैं, उसे मालुम नहीं है कि अपनी क्या दशा होनी है ॥ ५ ॥ आप भले ही किसी से ठगाइये, परन्तु अन्य किसी को नहीं ठगिये, क्योंकि आप ठगाने से पाप के अभाव से सुख होता है, अन्य को ठगने से पापद्वारा दुःख होता है, उच्च स्थान नहीं मिलता है, ॥ ६ ॥

बूरा बूरा सब कहै, बुरा न दीसै कोय।
जो दिल खोजा आपनो, मों सो बुरा न कोय ॥ ७ ॥

निन्दक एकहु मति मिलै, पापी मिलै हजार।
इक निन्दक के शीस पर, सौ [1]पापी का भार ॥ ८ ॥
निन्दक ते कुत्ता भला, हठ[2] करि माड़ै रारि।
कुत्ते से क्रोधी बुरा, गुरुहुँ दिलावै गारि ॥ ९ ॥

अन्य को सब बुरा २ कहते हैं, परन्तु आत्मादि दृष्टि से कोई बुरा नहीं दीखता है, और यदि मन में बुराई खोजा जाय, तो ममता युक्त अपने मन के समान कोई बुरा नहीं है ॥ ७ ॥ मन के वशवर्ती निन्दक एक भी नहीं मिले, और मूल से पाप करने वाले हजारों मिले तो हानि नहीं है, क्योंकि एक निन्दक के शिर पर सैकड़ों (अनन्तो) पापी का भार रहता है, अर्थात् अनन्त की निन्दा करके वह सबका पाप में से भाग लेता है ॥ ८ ॥ परोक्ष में निन्दा करनेवाला निन्दक से प्रत्यक्ष में हठ करके झगरा करने वाला कुत्ता भला है, और क्रोध वश होकर प्रत्यक्ष ही निन्दा करनेवाला क्रोधी भी कुत्ते से बुरा है, क्योंकि कुत्ता तो परस्पर

१ लख पापी। २ हट करि। पा० ॥

रार करता है और क्रोधी निन्दक माता पिता गुरु को गारि दिलाता और देता है ॥ ९ ॥

अडसठ तीरथ न्हाय कर, निन्दक गया जु जाय।
कहैं कबिर बांचै नहीं, निन्दक नरकहि जाय ॥१०॥

निन्दक न्हाय गहन कुरु खेत, अरपै नारि सिंगार समेत।
चौंसठ कूवा वाय दिखावै, तो भी निन्दक नरकहि जावै ॥११॥

आठ अधिक साठ तीर्थ में स्नान करके निन्दक मनुष्य गया भी जावे तो पाप यम बन्धन से नहीं बांचता है, इससे नरक में ही जाता है ॥ १० ॥ सूर्य ग्रहण काल में निन्दक यदि कुरुक्षेत्र में स्नान करके सिंगार सहित स्त्री का दान करे, और भरतकूप सदृश चौंसठ कूप तथा पुष्करादि तुल्य वाय (वापुरी-तालाव) को देखे (दर्शन करे करावे) या कूप बावरी बनाकर दान देवे दिलावे, तो भी निन्दक नरक ही में जाता है, अर्थात् निन्दाजन्य पाप प्रायश्चित से भी अनिवार्य है, क्योंकि यह अत्यन्त ज्ञात पाप है, अज्ञात के लिये प्रायश्चित्त करने से निवृत्ति होती है, सो याज्ञवल्क्य स्मृति में प्रसिद्ध है ॥ ११ ॥

इति निन्दा का अंग ॥

अथ निर्वैरता दया का अंग ॥ ७६ ॥

दया भाव जानै नहीं, ज्ञान कथै बेहद्द।
ते नर नरक हि जाहिंगें, सुनि सुनि साखी शब्द ॥ १ ॥

भावै जावो बद्रिका, भावै जाव गया।
कहैं कबीर सुनु साधो, सब ते बड़ी दया ॥ २ ॥

जाके दिल दाया नहीं, वहुरि कहावै साध।
कबिरा तिनके दरश ते, लागै वहु अपराध॥ ३॥

कबिरा दरिया परजला, दाझै जल थल झोल।
बस नाहीं गोपाल सो, दाझै रतन अमोल॥ ४॥

जो मनुष्य दया और भाव (आत्मसत्ता-आत्मप्रेम) को नहीं जानते, किन्तु मुख से बेहद (निःसीम) ज्ञान कथते हैं, सो साक्षी शब्दादि को सुन २ कर भी नरक ही में जायेंगे॥ १॥ बद्रिका (बदरीनाथ) वहुरि (फिर भी) कबिरा (हे जीव)॥ २–३॥ हे कबीरा ! संसार रूप दरिया दुःख क्रोध कालादि अग्नि से परजला (अत्यन्त ज्वलित) है, तहाँ जल थल के झोल (तुच्छ दीन हीन प्राणी) दाझे (जलाये) जाते हैं, परन्तु इतना ही नहीं किन्तु अमोल रत्न (सन्तभक्त जन धर्मात्मा) भी जलाये जाते हैं, और इस दाह के कारण गोपाल से किसी का कोई वश नहीं चलता है, इससे सब दया के पात्र हैं, और वैर अभिमान निन्दा करना उचित नहीं है॥ ४॥

उनई आई बादरी, बरसन लगा अँगार।
उठी कबीरा धाह दै, दाझत है संसार॥ ५॥

दाघ कलापी सब दुखी, सुखी न देखा कोय।
कोइ[1] निपुण कोइ बान्धवा, कोइ धन हीना होय॥ ६॥

दाघ कलापी सब दुखी, सुखी न देखा कोय।
जहँ जहँ [2]भक्त गोपाल के, तहँ टुक धीरा होय॥ ७॥

यद्यपि इस संसार में प्रथम स्त्री पुत्र धनादि में मोह ममता रूप बादरी (मेघ) उनई (नम) आई, जिससे प्रतीत हुआ कि सुख जल की वृष्टि होगी, परन्तु वह तो रागद्वेष दुःख शोकादि रूप अंगार (प्रदीप्ताग्नि)

१ पुत्र॥ २ भक्ति कबीर की, तहँ तहँ धीरज होय॥

बरसने लगा, हे कबीरा (जीव) वह घाह (ताप) दे कर संसार को जलाता है, तुम दया करके जहां तक बच सको तहां तक ऊठ कर बचाओ ॥ ५ ॥ कलापी (स्त्रीपुत्रादि संघवाले) संगी सब ही संसार दाघ (दाह-ताप) से दुखी हैं, किसी को सुखी नहीं देखा, चाहे कोइ निपुण, बन्धु युक्त, वा धन हीन हो तो इससे क्या ॥ ६ ॥ सब संगी दुःखी हैं, परन्तु जहाँ जहाँ गोपाल (सर्वरक्षक) प्रभु के भक्त हैं, तहाँ २ संगी लोग भी टुक (थोरा) धैर्य-युक्त सुखी होते हैं, इसलिये दया करके भी गोपाल की भक्ति करना कराना चाहिये ॥ ७ ॥

इति निर्वैरता दया का अंग ॥

———

अथ कुदाव का अंग ॥ ७७ ॥

बाग बिछूड़ा मिरगला, ताहि न मारो कोय।
आपे ही मरि जायगा, डाँवा डोला होय ॥ १ ॥

हम रोवै संसार को, हमे न रोवैं कोय।
हम को तो सोइ रोवै, नाम सनेही होय ॥ २ ॥

और बाग (अपने रहने का स्थान बगीचा) से (अथवा अपने सजाति के संघ रूप वर्ग से) बिछुड़ा हुआ मृग को तथा उसके समान अज्ञ मनुष्य को कोइ नहीं मारो (निन्दा आदि से दुखी नहीं करो, दया करके भी यदि तुम उसकी रक्षा नहीं कर सकोगे, तो वह आप ही डामाडोल होकर (भटक कर) मरेगा, मार कर तुम क्यों पापी बनते हो ॥ १ ॥ हम तो इस दुःखी संसार के लिये रोते हैं, परन्तु हमारे लिये कोई नहीं रोता है। हमारी बात कोई सुनता नहीं है) हमको वही रोवेगा, जो कि नाम भजन के प्रेमी होगा ॥ २ ॥

इति कुदाव का अंग ॥

———

अथ सुन्दरी का अंग ॥ ७८ ॥

कबीर सुन्दरि यों कहै, सुनियो कन्त सुजान ।
वेगि मिलो तुम आय के, ना तो तजि हो प्रान ॥ १ ॥

सुन्दरि देइ सन्देशरा, सुनो हमारा पीव ।
जल विनु मछली क्यों जीवै, पानी हूं का जीव ॥ २ ॥

कबीर जो कोई सुन्दरी, जानि करै व्यभिचार ।
ताहि न कबहू आदरै, परम पुरुष भरतार ॥ ३ ॥

सुन्दरि तो साईं भजै, तजै आन की आस ।
ताहि न कबहू परिहरै, पलक न छाड़ै पास ॥ ४ ॥

सुन्दरी (सुन्दर बुद्धि-प्रेमी भक्त-विरहिणी स्त्री) आत्मदेवादि से प्रार्थना करती है ॥ १ ॥ जल विनु मच्छी के समान आत्मादि के विना बुद्धि आदि का नाश ही जानना चाहिये ॥ २ ॥ बुद्धि बल पाकर जो बुद्धि मत्ता के गर्व से अनर्थ करता है, सुन्दर परस्त्री को जान कर व्यभिचार करता है, भक्तों का अनादर करता है, उसका आदर परमात्मा नहीं करता है ॥ ३ ॥ सुन्दरी तो वही ठीक है, जो स्वामी को भजती है, और उस पति को कभी नहीं त्यागती है, न हृदय से पल भर पास छोड़ती है ॥ ४ ॥

मन मनसा को मारि के, नन्हा करि कै पीस ।
तब सुख पावै सुन्दरी, पदम झलक्कै सीस ॥ ५ ॥

मैं मेरी जब जायगी, तब आवैगी और ।
जब यह निश्चल होयगी, तब पावै निज ठौर ॥ ६ ॥

चढ़ी अखारे सुन्दरी, मांडै पिय सो खेल ।
दीपक जोया ज्ञान का, काम जरै ज्यों तेल ॥ ७ ॥

कबीर सेरी सांकरो, माही चूरम चूर।
कारण वन्ती सुन्दरी, रहै धका से दूर ॥ ८ ॥

मन और मनोरथ को मार कर जब तनु मनसा के अभ्यास से मन को सूक्ष्म कर पीसती है, तब सुन्दरी सुख पाती है और उस के शिर पर पद्मादि निधि झलकता है ॥ ५ ॥ मैं मेरी के जाने पर समात्म बुद्धि आयगी। और जब यह बुद्धि निश्चल होगी तब निज ठौर पाती है ॥ ६ ॥ अखाड़े (स्वधर्म) में चढ़कर (स्थिर होकर) तेल के समान ज्ञानाग्नि से काम नष्ट होता है ॥७॥ परन्तु इस ज्ञान की सेरी (मार्ग-सीढ़ी) सांकरी है, इससे इसमें चूरम चूर होना होता है, इससे लौकिक कारण (प्रयोजन) वाली सुन्दरी यहाँ के धका के भय से दूर ही रह जाती है ॥ ८ ॥

इति सुन्दरी का अंग ॥

अथ उपजन का अंग ॥ ७९ ॥

नाम न जानै गाम का, पीछे लागा जाय।
काल ही कांटा भांगसी, पहिले क्यों न खुजाय ॥ १ ॥

सीख भई संसार से, चले जो सांई पास।
अविनाशी मोहि ले चला, पुरई मेरी आस ॥ २ ॥

इन्द्र लोक अचरज भया, ब्रह्मा बड़ा विचार।
कबिरा चला राम पै, कौतुकहार अपार ॥ ३ ॥

जो कोई गन्तव्य स्थान (राम) के नाम तक नहीं जानता है, और किसी के पीछे लग कर कर्मादि मार्ग में जाता है, उसे कल्ह (आगे) विपत्ति रूप कांटा भेदेगा, या काल ही कांटों से फाड़ेगा, इस लिये प्रथम से खोज क्यों नहीं करता है, (खुजाय के खुराय) पाठान्तर है ॥ १ ॥ यदि

प्रथम संसार के दोषों को देखने द्वारा संसार से ही शिक्षा भई (मिली) फिर विवेक करके यदि स्वामी के पास हम (जीव) चले, तो अविनाशी स्वामी भी मुझे ले चला, और मेरी आशाओं को पूर्ण किया, अन्यथा नहीं ।। २ ।। और यदि जीव राम के पास चला तो इन्द्र लोक में आश्चर्य प्रतीत होने लगा, ब्रह्मा भी भारी विचार में लग गये कि यह कैसी बात है, और अपार कौतिकहार (तमासा देखनहार) हो गये, अर्थात् यह सर्वत्र के लिये अपूर्व बात है ।। ३ ।।

शरद पानि पाताल का, काढि कवीरा पीव।
वासी पावस पडि मुआ, विषय विलम्बा जीव ।। ४ ।।

कवीर हरि का डरपंता, ताता अन्न न खाय।
हिरदा भीतर हरि वसै, दाझन ते डरपाय ।। ५ ।।

गोविन्द केरे बहुत गुन, लिखा जु हिरदा माहिं।
पानी पीऊँ न डरपता, मति वे धोया जाहिं ।। ६ ।।

हे कवीरा (जीव) पाताल (हृदय) का शरद (नवीन शीतल) पानी (आत्मानन्द) को काढ़ (प्रकट) करके पीओ। इसके विना विषय में अँटका हुआ जीव वासी पावस (पुराना भोगरूप पानी) में पड़कर नष्ट हुआ (पावस के पावक) पाठान्तर है, उसका आचार व्यवहार अर्थ है ।।४।। हरि से डर कर ताता (गर्भ दुःख ताप प्रद) विषय को त्यागो, अंतर्यामी की रुष्टता से डरो ।। ५ ।। ज्ञान विराग धर्म संतोषादि ये बहुत गुण वस्तुतः गोविंद की विभूति हैं, सो भी हृदयमें लिखे हैं, होने वाले हैं, इससे डरता हुआ विषयरूप पानी नहीं पीता हूं कि कहीं वे धोया न जायँ, अर्थात् सद्गुणों की प्राप्ति के लिये जैसे निषिद्ध विषयादि त्याज्य हैं, तैसे ही उनकी रक्षा के लिये भी त्याज्य हैं ।। ६ ।।

अब तो मैं ऐसा भया, निरमोलिक निजनाम।
पहिले कांच कथीर था, फिरता ठामहिं ठाम ।। ७ ।।

भवसागर जल विष भरा, मन नहिं बांधै धीर।
सकल सनेही हरि मिला, उतरा पार कबीर ॥ ८ ॥

भला सुहेला ऊतरा, पूरा मेरा भाग।
राम नाम बांका गहा, पानी पग नहिं लाग ॥ ९ ॥

पूर्वोक्त धारना से अब मैं जीव ऐसा हो गया कि मूल्य रहित निजनाम (स्वस्वरूप हीरा) भया, और प्रथम तुच्छ कांच था, ठामे ठाम भटकता था, अचल हीरा होने से भटकना छूट गया ॥ ७ ॥ संसार सागर के विषय रूप जल में राग द्वेषादि रूप विष भरा है, इससे उस जल के पीने पर मन धैर्य नहीं बांधता (धरता) हैं, किन्तु व्याकुल रहता है, गुरु कृपा से जब जिसको सबके सनेही (प्रेमी) सब के प्रियतमात्मा रूप हरि मिला, तब वह संसार सागर से पार उतर गया ॥ ८ ॥ मैं भला समय संग में ऊतर गया, मेरा भाग्य पूर्ण है, बांका (सुन्दर) राम नाम को गहा कि जिससे पग (मन) में संसार के विषययुक्त पानी अब लगता ही नहीं है ॥ ९ ॥

सपना में सांईं मिला, सूता लिया जगाय।
आँखि न मीचौ डरपता, मत सपना ह्वै जाय ॥ १० ॥

हरिजी की दाया भई, संशय डाली खोय।
जो दिन गया भक्ति विनू, सो दिन सालै मोय ॥ ११ ॥

कबीर याचन जाय था, आगे मिला अयाच।
आप सरीखा करि लिया, भारो पाया सांच ॥ १२ ॥

मेरा मन मूरख हता, करता बहुत बिगार।
सूधा ह्वै पैंडा चला, हरि आगे मैं लार ॥ १३ ॥

संसार स्वप्न में गुरु रूप से स्वामी मिला, अब मोह निन्द से सोये को जगाया, तब फिर विवेक दृष्टि को शिष्य नहीं मीचता (बन्द करता) है कि फिर संसार स्पप्न नहीं होवे ॥ १० ॥ हरिजी की दया हुई कि जिससे संशय

को नष्ट किया, परन्तु जो समय भक्ति विना गया सो अब भी मुझे सालता है ॥ ११ ॥ सुखसाधनादि को याचने के लिये जाता था, दैव योग से आगे अयाच (इच्छा रहित पूर्ण काम) सद्गुरु मिल गये, फिर अपने तुल्य कर लिये, तो भारी सत्य को पाया ॥ १२ ॥ जीव का मन प्रथम मूर्ख था सो बहुत विगार करता रहा, सद्गुरु के मिलने से सीधा होकर मार्ग में चला तो सर्वत्र हरि आगे दिखने लगे, और मैं हरि के लार (पास-साथ) में हो गया ॥ १३ ॥

इति उपजन का अंग ॥

अथ कस्तूरीमृग का अंग ॥ ८० ॥

कस्तूरी कुण्डल बसै, मृग ढूंढ़ै वन माहिं।
ऐसे हरि घट घट बसै, मूरख जानत नाहिं ॥ १ ॥

देखै कोई सन्त जन, पांचों जाके हाथ।
पांचों जाके वश नहीं, ताके संग न साथ ॥ २ ॥

साधु कोई जानि हैं, पांचों राखी चूर।
जिनके पांचो मुक्त है, तिन से साहब दूर ॥ ३ ॥

सो साहब तन में बसै, मरम न जानै तास।
कस्तूरी का मिरग ज्यों, फिर फिर ढूंढ़ै घास ॥ ४ ॥

ज्यों नैनन में पूतली, त्यों खालिक घट माहिं।
मूरख नर जानै नहीं, वाहर ढूंढ़न जाहिं ॥ ५ ॥

कुण्डल (नाभि वलय), ऐसे घट घट ब्रह्म है, दुनिया जानै नाहिं यह पाठान्तर है ॥ १ ॥ पांचो (ज्ञानेन्द्रिय), हाथ (वश में), चूर (अधीन), मुक्त (खुले-अवश), खालिक (ईश्वर) ॥ २-५ ॥

कवीर खोजी रामका, गया जु सिहल द्वीप।
साहव तो घटही बसैं, जो आवैं परतीत ॥ ६ ॥

[1]कवीर हरि दूरी नहीं, हरि हृदये भरपूर।
आप पिछानैं वाहरी, नीरा ही ते दूर ॥ ७ ॥

कवीर वहुत भटकिया, मन ले विषय विराम।
ढूंढ़त ढ़ूंढ़त जग फिरा, तृन के ओटे राम ॥ ८ ॥

तृन के ओटे राम है, भावैं परवत जाय।
सतगुरु मिलि परचा भया, तब पाया घट माय ॥ ९ ॥

[2]एक नाम तिहुं लोक में, सकल माहिं भरपूर।
जो जानै तो निकट है, अनजाने ते दूर ॥ १० ॥

कस्तूरी कुण्डल वसै, नाभि कमल हरि नाम।
नर ढूंढ़त पावत नहीं, गुरु विनु ठामहि ठाम ॥ ११ ॥

वाहर राम को खोजने वाला सिंहल द्वीप में गया, परन्तु यदि प्रतीति (विश्वास) आवे तो साहब घट ही में बसता हुआ मिलता है ॥ ६ ॥ आप से वाहर पिछानता (समझता) है, इससे नियरे होते भी दूर होता है ॥ ७ ॥ मन विषय में विराम (आश्रय) ले कर वहुत भटका, तृण (विषय अज्ञान) ॥ ८-९ ॥ नाभि कमल शब्द ब्रह्म का स्थान है, गुरु विना अनेक स्थान में खोजता हुआ नर समझता नहीं है ॥ १०-११ ॥

तेरा सांईं तुझहि में, ज्यों फूलन में वास।
कस्तूरी के मिरग ज्यों, फिरि फिरि सूंघै घास ॥ १२ ॥

जा कारन जग ढूंढ़िया, सो तो घट ही माहिं।
परदा दिया भरम का, ताते सूझै नाहिं ॥ १३ ॥

---

१ मैं जनूं हरि दूर है। पा० ॥ २ घट बढ़ कहूँ न देखिये, ब्रह्म सकल भरपूर। पा० ॥

समझै तो घर में रहै, परदा पलक लगाय ।
तेरा साहब तुझहि में, अन्त कहूं मत जाय ॥ १४ ॥

फूलों में गन्ध के समान तेरा स्वामी तुम ही में है, परन्तु कस्तुरी वाला मृग जैसे अज्ञान से बार २ घास सूंघता है, तैसे तुम हरि नामा राम को अन्यत्र ढूंढ़ते हो ॥ १२ ॥ जा कारण (जिसकी प्राप्ति के लिये) संसार में खोजा, सो घट ही में है, परन्तु भ्रम (अविद्या) का पड़दा दिया है, इससे दीखता नहीं है ॥ १३ ॥ यदि भ्रम को हटा कर मन उसको समझ लेवे, तो पलक के पड़दा लगा कर घर (देह हृदय) में ही स्थिर रहे, इसलिये समझो कि तेरा साहब तुझ में ही है, और ऐसा समझ कर अपने अन्दर साहब को खोजो अन्यत्र कहीं खोजने नहीं जाओ ॥ १४ ॥

इति कस्तूरीमृग का अंग ॥

अथ निगुन का अंग ॥ ८१ ॥

जानै हरिया रूखड़ा, पानी हूं का नेह ।
सूखा काठ न जानई, कितहू वूडा मेह ॥ १ ॥

झीमिर झीमिर वरषिया, पाहन ऊपर मेह ।
माटी गली पानी भई, पाहन वाही नेह ॥ २ ॥

पार ब्रह्म वड़ मोतिया, घटा वांधि शिखराहि ।
सुगुरा सुगुरा चुनि लिया, चूक पड़ी निगुनाहि ॥ ३ ॥

कवीर हरि रस बरषिया, गिरि पर्वत शिखराय ।
नीर निवानूं ठाहरा, ना वह छापर डाय ॥ ४ ॥

कवीरा मूढ कर्मिया, नख शिख पाखर आहि ।
बाहनहारा क्या करै, वान न लागै ताहि ॥ ५ ॥

रूखरा (वृक्ष), नेह (स्नेह-रस), मेह (मेघ के पानी) ॥ १ ॥ नेह (स्वभाव-क्रूरता) ॥ २ ॥ पारब्रह्म मेघ ने सद्गुरु सन्तरूप घटा (मेघ समूह) को बांध (संघ) करके, ज्ञान ध्यानरूप मोती के मानो शिखर ही वर्षाया, सुगुरा २ (सद्गुणवाले) सब चुन लिया, परन्तु शमादि गुण रहितों में चूक (भूल) पड़ी इससे नहीं पा सके ॥ ३ ॥ क्योंकि गुरु रूप हरि (इन्द्र) ने पर्वत के शिखर पर भी आनन्द रस की वर्षा किया, परन्तु वह जल नीवानूं (नम्र) में ठहरा, ऊपर ओडाय (टेकरे) तुल्य में नहीं ॥ ४ ॥ पाखर (लोह के झूल-मोह), बाहनहारा (बान चलाने वालागुरु), बान (उपदेश) ॥ ४–५ ॥

पशुवा सो पानो पड़ा, रह रह हृदया खीज।
ऊषर बोय न नीपजै, भावै केतौ सींच ॥ ६ ॥

जारौं येह वडापना, ऊँचो पेंड खजूर।
पक्षी छांह न पावई, फल लागै वड दूर ॥ ७ ॥

ऊंचा कुल के कारने, वांस बढ़ो हंकार।
एक नाम जान्यो नहीं, जारा सब परिवार ॥ ८ ॥

चन्दन केरे नीयरे, नीम भि चन्दन होय।
बूड्यो वाँस वडाइया, यों मति बूड़ो कोय ॥ ९ ॥

सतगुरु मिला तो क्या भया, जो मन भया कठोर।
नौ नेजा पानी चढ़ा, तऊ न भीजा कोर ॥ १० ॥

कबिर हृदय कठोर के, शब्द न लागै सार।
शुध वुधि के हृदये विधे, उपजै ज्ञान विचार ॥ ११ ॥

पशुवा (निगुण) से पानो परा (संग हुआ) तो वह रह २ कर मन में क्रुद्ध होता है, और उसको उपदेश नहीं लगता है, जैसे कि ऊषर में बीज नहीं जमता है ॥ ६ ॥ खजूर तुल्य इस वडाई को नष्ट करो ॥ ७ ॥

वांस के तुल्य जिसको अहंकार बढ़ा वह एक राम नाम को नहीं जाना ॥ ८॥ वांस के समान सद्‌गुण विना कोई नष्ट नहीं होओ ॥ ९॥ नौ नेजा चौवन हाथ पानी चढने पर भी जैसे कठोर पत्थर के कोर तक नही भींजा, तैसे कठोर दिल वाले को सद्‌गुरु के मिलने से भी कुछ फल नहीं हुआ ॥ १०–११ ॥

परसै चन्दन वावना, विष नहि तजै भुवंग।
ऊंचा लैं गुन आपनो, कहा करै सतसंग ॥ १२ ॥

कवीर लहरी समुद्र की, मोती विथरै आय।
वगुला सार न जानई, हंसा चुगि चुगि खाय ॥ १३ ॥

हंसा वगुला एक रंग, एकै ताल चुगाहि।
वक ढूंढै लैं माछली, हंसा मोती खाहि ॥ १४ ॥

एक शब्द में सब कहा, गुरु शिष को समुझाय।
समुझाये समुझै नहीं, फिर फिर पूछै आय ॥ १५ ॥

सर तो ताको मारिये, जो सर लायक होय।
मारै सर पाषाण में, सर भी जाय विगोय ॥ १६ ॥

वावन चन्दन के स्पर्श से भी सांप अपना विष नहीं छोडता, तैसे अपना ऊंचा गुण के अभिमान युक्त को सत्संग से कुछ नहीं होता ॥ १२॥ ब्रह्म समुद्र के लहरी सन्तजन सदुपदेश रूप मोती फैलाये हैं, परन्तु बगवृत्ति उसका तत्त्व को नहीं जानता है हंसवृत्ति जानता है ॥ १३ ॥ माछली (मायिक वस्तु), मोती (जीवन्मुक्ति ब्रह्मानन्द) ॥ १४ ॥ गुरुजीने एक शब्द (थोरे शब्द) में शिष्य को सब तत्त्व समुझाय कर कह दिया कि भजिये निर्गुण राम को, तजिये विषय विकार, परन्तु निर्गुण जीव समझाने से नहीं समझता, बार २ आकर पूछता ही है ॥ १५ ॥ उपदेश रूप बान उसे मारना चाहिये जो उसके योग्य हो ॥ १६ ॥

सारा लश्कर ढूंढिया, सरदार न पाया।
गीदरिया को वाहि के, वेकाम वहाया ॥ १७ ॥

गुन कोई जानै नहीं, अवगुन सवै गहन्त।
निगुने नर की रीति है, कहैं कवीरा सन्त ॥ १८ ॥

गुन गाड़ै अवगुन खनै, कांधे कपट कुदार।
आजु काल्हु महँ देखियै, जात न लागै वार ॥ १९ ॥

कवीर गुनियां गुन करै. निगुनी गुन हि घिनाय।
वैलहि जायफल दीजै, सो क्या जाने खाय ॥ २० ॥

यदि सारा लश्कर में ढूंढने पर भी सरदार (सर सहने योग्य) को नहीं पाया, वीर नहीं मिला, तो गीदर तुल्य को वाण से मार कर वाण को वेकाम वहाया (वीगा) ॥ १६ ॥ यह निगुने नर की रीति, जीव से सन्त कहते हैं कि वह गुन को जानने के लिये यतन भी नहीं करता, और सब अवगुण को सब से मिल कर बरता है ॥ १७ ॥ कपट के कुदार लेकर गुण को छिपाता है, अवगुण को प्रकट करता है, परन्तु देखो कि ऐसे लोगों को आज काल्ह में ही जाते में वार भी नहीं लगता है ॥ १९ ॥ गुनिया (ज्ञानी भक्त सन्त) श्रवण मननादि अहिंसादि गुण का अभ्यास करते हैं, निगुनी (यमनियमादि रहित) सद्गुण दया दानादि से घृणा करते हैं ॥ २० ॥

इति निगुन का अंग ॥

अथ विनतो का अंग ॥ ८२ ॥

विनवत हूं कर जोरि के, सुनु गुरु कृपानिधान।
सन्तन[1] को सुख दीजिये, दया गरीबी ज्ञान ॥ १ ॥

---

१ साधु संगति सुख । पा० ॥

वन्दा भूलि बिगारिया, करि करि मैला चित्त।
गरुआ साहब चाहिये, नफर बिगारै नित्त॥ २॥

अवगुण किया तो बहु किया, करत न मानी हार।
भावै वन्दा बकशिये, भावै गरदन मार॥ ३॥

सांई केरा बहुत गुन, अवगुन कोई नाहिं।
जो दिल देखो आपनो, सब अवगुन मुझ माहिं॥ ४॥

अवसर बीता अल्प तन, पीव रहा परदेश।
कलंक उतारो रामजी, भानो भरम अँदेश॥ ५॥

सुख (ब्रह्मानन्द-स्वर्ग), दया (दीनोद्धारण शक्ति) गरीबी, (नम्रता), ज्ञान (आत्मानुभव) सन्तों को दीजिये॥ १॥ वन्दा (दास-भक्त), मैला (राग द्वेषादियुक्त), गरुआ (गंभीर-क्षमा शील), नफर (दास॥ २॥ अवगुण करने में हार नहीं माना (संकोच नहीं किया), भावै (चाहे) वन्दा (दास) को बकशिये (उबारिये) चाहे गरदन काटिये॥ ३॥ अल्प (सूक्ष्म-तुच्छ) शरीर में ही इसके पोषणादि करते में समय बीत गया, और सर्वात्मा पीव परदेश (देह से बाहर) रहा, देह में अनुभूत नहीं हुआ, यह अज्ञान कलंक उतारो, और भ्रम संशय को भानो (नष्ट करो)॥ ५॥

कबिर करत है बीनती, भवसागर के माहिं।
वन्दे पर जोरा हुवै, यम को बरजहु नाहिं॥ ६॥

तेरे जोर न जुलुम है, मेरा होत अकाज।
बिरद तुम्हारो लाजसी, शरण आय की लाज॥ ७॥

मेरा मन ज्यों तुज्झ सो, यों जो तेरा होय।
अहरन ताती लोह ज्यों, संधि लखै नहिं कोय॥ ८॥

तुझ में अवगुन तुझहि गुन, तुझ गुन अवगुन मुज्झ ।
जो मैं बिसरूं तुझ्झ को, तू मति बिसरें मुज्झ ॥ ६ ॥

जोरा (बलात्कार-जुल्म), हुवै (होता हैं), और आप यम को वरजते (रोकते) नहीं हो ॥ ६ ॥ यद्यपि तुम असंग हो, इससे तेरे लिये जोर जुल्म नहीं है, परन्तु जीव का अकाज होता है, और तुम्हारा विरद (यश) भी लजाता है, जीव को भी तेरे शरण में आने की लाज है ॥ ७ ॥ जैसा शरणागत जीव का मन तेरे साथ है, तैसा ही यदि तेरा मन भी हो जाय, तो अहरन पर आये तप्त लोहों के समान जीवेश्वर में कोई सन्धि नहीं देख सके ॥ ८ ॥ तुझ में जगत् के संहारादि कर्तृत्व रूप अवगुन भी तुझ गुण ही है, परन्तु वह तेरा गुण मुझ में अवगुण है, और अल्पज्ञ होने से यदि मैं तुम को भूलूं भी तो सर्वज्ञ तुम मुझे नहीं भूलो । (मुझ में अवगुन, तुझहि गुन) पाठान्तर है ॥ ९ ॥

[1]तुझे विसारे क्यों बनै, मैं किस शरणे जाउँ ।
शिव विरञ्चि मूनि नारदा, इनके हिय न समाउँ ॥ १० ॥

नैन हमारे वावरे, छन छन लोटैं तुझ्झ ।
ना तूं मिलै न मैं सुखी, ऐसी वेदन मुझ्झ ॥ ११ ॥

मैं अपराधी जन्म का, नख सिख भरा विकार ।
दया करो तुम सांइयाँ, तौं हम उतरै पार ॥ १२ ॥

सावधान भोर सांइयाँ, मैं ही भया अचेत ।
मन वच करम न हरि भजा, ताते निष्फल खेत ॥ १३ ॥

तुझे मेरे को विसरने पर, मेरा काम कैसे वन सकता है, तेरे विना मैं किस के शरण में जाऊं, शिवादि के हृदय में तो मैं समाता ही नहीं हूँ ॥ १० ॥ और मेरा नैन वावरा वन कर छन २ में तेरे लिये लोटता

१ सतगुरु तोंहि विसारि के । पा० ।

है, इससे जब तक तुम नहीं मिलते हो, तब तक मैं सुखी खुशी नहीं हूँ, इस प्रकार की मुझे वेदना है ॥ ११ ॥ अनन्त जन्म का अपराधी जीव है, और इस में कामादि विकार भरे हैं ॥ १२ ॥ सावधान (भूल अज्ञानादि रहित), खेत (मानव देह) ॥ १३ ॥

ना प्रतीति न प्रेम रस, ना कोइ तन में ढंग।
ना जानों उस पीव सों, क्यों कर रहसी रंग ॥ १४ ॥
अन्तर्यामी एक तूं, आतम के आधार।
जो तुम छाड़ौ हाथ सों, कौन निवाहनहार। १५ ॥

प्रतीत (विश्वास-विवेक), ढग (सेवा-सत्कारादि करने का कौशल), यह नहीं समझ में आता कि इस अवस्था में उस सर्वात्मा स्वामी से रंग (राग-प्रेम) कैसे रहेगा ॥ १४ ॥ आत्मनि सर्वाणि भूतानि सर्वे देवाः सर्वे लोकाः सर्वे प्राणाः सर्व एत आत्मनः समर्पिताः। वृ० २। ५। १५। इत्यादि वचन के अनुसार अन्तर्यामी एक है, सो सब भूतं इन्द्रिय विषय प्राण और मन का आधार है, सो आत्मा (मन) के आधार तुम यदि हाथ से छोड दो (पालन नहीं करो) तो नियाहनेवाला अन्य कौन है ॥ १५ ॥ (कौन उतारै पार) पाठान्तर है।

इति विनती का अंग ॥

अथ वेली का अंग ॥ ८३ ॥

कबीर कडुई बेलरी, कडुवा ही फल होय।
सिद्ध नाम तब पाइये, वेलि विछोहा होय ॥ १ ॥

सिद्ध[1] भया तो क्या भया, चहुँ दिश फूटी वास।
औरो बीज अंकूर में, फिर ऊगन की आश ॥ २ ॥

जो ऊगै तो ब्रह्म में, अन्ते कहूं न जाय।
हरि रस सींचे बेलरी, कबहुँ न निष्फल जाय ॥ ३ ॥

अविद्या माया (कपटादि) युक्त बुद्धि रूप बेलरी (लता) कड़ुई है, और उसके कामादि जन्ममरणादि रूप कड़ुवा ही फल होते हैं, ऐसी बेली (कुबुद्धि) जब विछोहा (वियोग) हो, तब सिद्ध (साधु-मुक्त) नाम पाया जाता है ॥ १ ॥ कोई बेली से वियोग बिना ही अणिमादि दूर दर्शनादि सिद्धि से सिद्ध भया (कहाया) तो उससे क्या भया, क्योंकि दुर्बुद्धि के रहते चारो तरफ वास (वासना) फूटी (फैली) कि जिससे अंकुर (देहवृक्ष) में और भी बीज (काम कर्मादि) हुये, और फिर भी ऊगने (जन्मने) की आशा रह गई ॥ २ ॥ यदि उस बेली को सदा हरि रस (प्रेम) से सींचा जाय, तो वह ऊगे भी तो ब्रह्म में उगे (जन्मे) और अन्यत्र कहीं नहीं जाय, तो ऐसी बेलरी कभी निष्फल (सत्फल रहित) नहीं जाती है, ॥ ३ ॥

सिद्धी सहज हि खड़ि परी, अग्नि जु लागो माँहि।
सिद्धि बेलि दोऊ जली, अब फिरि ऊगै नाहि ॥ ४ ॥

जारन आनी लाकड़ी, ऊठी कोपल मेलि।
अब तो ऐसो ह्वै पडी, ना तुमरी ना बेलि ॥ ५ ॥

आगे आगे दव बरै, पीछे हरियर होय।
बलिहारी ता वृक्ष की, जड़ काटै फल होय ॥ ६ ॥

---

१ सिद्ध भई तो क्या भया, फिरि न वासना नेह।
जन्म लेत संसार में, फिरि फिरि धारे देह ॥ १ ॥

हरि रस सींच कर बुद्धि को ब्रह्म में लगाने पर सिद्धि होती है, तो भी वह सहज ही खड़ी परी रहती है, कामवासनादि बीजों को पैदा नहीं करती है, इससे सुखी लकरी तुल्य उसमें और बुद्धि में जो आत्मज्ञानाग्नि लगती है, उससे सिद्धि और बुद्धि बेली दोनों जल जाती है, अब फिर जन्मती नहीं है ॥ ४ ॥ भक्तों ने तो मानो देह रूप लकड़ी को जलाने के ही लिये आनी है, जिसके मेल से ज्ञानाग्नि की कोपल (नवीन शिखा) ऊठी है, इससे अब तो ऐसी बात हो पड़ी कि कामादि रूप तुमरी और बुद्धिरूप बेली भी नहीं रह गई । या जारने (भोगने) के लिये सुखी लकड़ी तुल्य विषयों को लाने पर उसके परस्पर के मेल से मानो वासनादि कोंपर (कोमल वृक्ष) उठी, परन्तु अब (ज्ञान होने पर) कुछ नहीं रहा ॥ ५ ॥ क्योंकि ज्ञान रूप दव (वनाग्नि) आगे २ जहाँ बरता है, तहाँ २ पीछे हरियर (आत्मानन्द) होता है, इससे तिस देह ससाररूप वृक्ष बुद्धि बेलि की बलिहारी है कि जिसके अविद्या रूप जर काटने पर सच्चा फल सुख मोक्ष होता है ॥ ६ ॥

जो काटे तो डहडही, सींचे तो कुम्हिलाय ।
इस गुणवन्ती बेलि का, कछु गुन कहा न जाय ॥ ७ ॥
आंगन बेलि अकाश फल, अनव्याही का दूध ।
शशा सींग के धनुष करि, खेलै बांझ का पूत ॥ ८ ॥

इस बेली को जो काटे तो डहडही (लहलही-आनन्दोत्साह) होती है, इसे विषयों द्वारा सींचने से कुम्हिलाती (मलिन होती) है, इससे इस त्रिगुणयुक्त बेलि का गुण (स्वभावादि) कुछ कहा नहीं जाता है ॥ ७ ॥ आंगन (हृदय) में यह अविद्या बेली है, और उसका फल चिदाकाश (ब्रह्म) में है, सो अनव्याही (असंगात्मा के असंगिनी) का दूध (वृत्ति-परिणाम) रूर है, और उसी मिथ्या फल के लिये शशा सींग तुल्य (शास्त्र

शब्द जाल) के धनुष करके सत्य पुत्र रहित वन्ध्या माया के कल्पित पुत्र (मन) खेलता (कर्मादि करता) है ॥ ८ ॥

इति वेलि का अंग ।

अथ वेहद का अंग ॥ ८४ ॥

हद छाड़ी बेहद गया, अबरन किया मिलान।
दास कबीरा [1]रमि रहा, सो कहिये रहिमान ॥ १ ॥
वेहद विचारो हद तजु हद तजि मेलो [2]ताप।
सवे अलिंगन मेटि के, करो निरन्तर वास ॥ २ ॥
अन्तर[3] वासी निर्मला, सुन्न थूल सो न्यार।
पूर्व[4] पछिम वहुरावई, पेखै बहु उजियार ॥ ३ ॥

जो जीव हद (वर्णाश्रम की मर्यादा-वन्धन-और एक देशी पदार्थ) को छोड़ कर वेहद (निर्गुण विभु स्वरूप स्वतन्त्र परमहंस भाव) में गया, और अवरण (निर्गुण-निराकार वेहद) से अपना मिलान (ऐक्य संबन्ध) किया। इस प्रकार जो दास जीव उसमें रम रहा है, सो रहिमन (दयालु) कहाता हैं ॥ १ ॥ इसलिये हद को त्यागो और वेहद को विचारो फिर हद को त्याग कर उसे वेहद में मेलो (लय चिन्तन करो), फिर सब आलिंगन (गति-आसक्ति-आश्रय) को मेट कर निरन्तर (व्यवधान रहित) वेहद में वास करो ॥ २ ॥ इस प्रकार अन्तरात्मा में बसनेवाला शून्य (तुच्छ मिथ्या) अविद्यादि और स्थूल से न्यारा होता है, और पूर्व (आगे) जाते हुए प्राण मन को पीछे (अन्दर) लौटाता है जिससे वहुत प्रकाश देखता है, ॥ ३ ॥

बेहद अगाधी [5]पीव है, ये सब हद के जीव।
जो नर राते हद्द सो, कभी न पावै पीव ॥ ४ ॥

---

१ मिलि। २ वास। ३ निरन्तर। ४ गंग पुरब पच्छिम बहै। पा० ॥
५ नाम। पा० ॥

हद में [1]पीव न पाइये, बेहद में भरपूर।
हद बेहद की गम लखै, तासो [1]पीव हजूर ॥ ५ ॥

हद बांधा [2]बेहद्द में, पल पल पेखै नूर।
मनुवाँ [3]तहँ लै राखिया, बाजै अनहद तूर ॥ ६ ॥

बेहद पीव (परतत्त्व) में अगाध बुद्धिवाला जीव है, और ये साधारण बुद्धिवाले जीव सब हद के निवासी हैं, और जो मनुष्य हद्द से राता (प्रेम किया) है, सो कभी बेहद पीव को नहीं पाता है ।४॥ हद में पीव को नहीं पाया जाता है, और बेहद (परमहंस निरभिमानिता दशा स्वस्वरूप) में पीव भरपूर पाया जाता है, इससे जो हद और बेहद दोनों के गम (मार्ग गति को जानता है, और हद मार्ग को त्याग कर बेहद मार्ग से चलता है, उसको पीव सदा प्रत्यक्ष उपस्थित रहता है ॥ ५॥ क्योंकि हद भी बेहद में ही बांधा है (बेहद के आश्रित है) और बेहद का ही नूर (प्रकाश) हद में भी वह पल २ में देखता है, इससे उस नूर में वह मन को लेकर रखता है, जहां अनहद बाजा बाजता है ।। ६ ॥

[4]हद माही हदका घना, लीया जीव तुराय।
[5]विगसि विगसि बेहद गया, मरै न आवै जाय ॥ ७ ॥

सुरति समानी निरति में, अजपा में है जाप।
लेख समान अलेख में, यों आपा महँ आप ॥ ८ ॥

हद छाडी बेहद गया, सुन्न किया अस्थान।
मुनि जन [6]महल न पावहीं, तहाँ लिया विश्राम ॥ ९ ॥

हद (देहादि के अभिमान) में हदका (घबराहट-भय) घना (बहुत) है, सो जीव को तुराय लिया है (त्वरायुक्त चंचल अशान्त किया

१ नाम। २ बेहद रमे। पा. बेहद मे बाँधा हद रमता है ॥ ३ तहाँ लगाइये। पा. । ४ दह। ५ रिगसि । ६ जान ॥

है) सत्य स्वरूप से पृथक किया है। जो जीव विगसि (विकास युक्त ज्ञानी) हो २ कर बेहद में गया, सो फिर न मरता है, न कहीं आता जाता है ॥ ७ ॥ उसकी सुरति (ध्यान) निरति (परप्रेम) में समा गई, जाप अजपा में ही स्थिर है, लेख (दृश्य) मन आदि अलेख (अदृश्य) आत्मा में समा गया, इस प्रकार अपने स्वरूप में आप लीन हुआ ॥ ८ ॥ जो जीव हद को त्याग कर बेहद में गया, सहज शून्य का अपना स्थान किया, वह जीव, शास्त्र के मननादि करने वाले मुनि लोग जिस महल को नहीं पाते हैं, तहां विभु स्वरूप में विश्राम लिया (स्थिति आनन्द पाया) ॥ ९ ॥

हद छाडी बेहद गया, रहा निरन्तर होय।
बेहद के मैदान में, रहा कबीरा सोय ॥ १० ॥

ऊंच चढै असमान महँ, मेरु उलंघी ऊडि।
पसु पखेरु जिव जन्तु सव, रहै मेरु महं बूडि ॥ ११ ॥

जीव विलम्बा पीव महं, पीव जु लिया मिलाय।
लेखा पडा अलेख में, अव कछु कहा न जाय ॥ १२ ॥

हद को छोड़ कर जो बेहद में गया, सो जीव निरन्तर (व्यवधान रहित-अखंड स्वरूप हो रहा, और उस बेहद के मैदान (विस्तृत स्थान) में वह समाधि निन्द से सो रहा ॥ १० ॥ जो मेरु दण्ड का उलंघन करके, और संसार से ऊड़ कर चलता है, अर्थात् सुमेरु पर स्वर्ग सुखादि की इच्छा भावनादि से रहित होता है, सो ऊंच असमान (स्वस्वरूप) में चढता (पहुँचता) है, और अन्य पशु पक्षी तुल्य जीव जन्तु सव ही, मेरु में ही बूडे रहते हैं, आसक्त होते हैं ॥ ११ ॥ जो जीव पीव में विलम्बा (भक्ति ज्ञानादि से स्थिर हुआ) और पीव भी उसे अपने में मिला लिया,

तो लेख (दृश्य) देहादि अलेख (सूक्ष्म प्रकृति) में पड़ा (लीन हुआ) अब कुछ कहा नहीं जा सकता है ॥ १२ ॥

हद छाडी बेहद गया, तासों राम हजूर ।
पार ब्रह्म परिचय भया, अब नियरे तब दूर ॥ १३ ॥
मैं मेटी मुक्ता भया, आपा ब्रह्मविलास ।
अब मेरे दूजा नहीं, एक तुम्हारी आस ॥ १४ ॥
हद में बैठा कथत है, बेहद की गम नाहिं ।
बेहद की गम होयगी, तब कछु कथना नाहिं ॥ १५ ॥

जो जीव हद (देहादि) के अभिमान को छोड कर बेहद (विभु) के विचारादि में गया, उससे सर्वात्मा राम सदा हजूर हैं, और पार ब्रह्म का परिचय (ज्ञान) हुआ, तो वह ब्रह्म अब पास में हो गया, और प्रथम मानो दूर था ॥ १३ ॥ देहादि में मैं बुद्धि और धनादि में आपा (ममता) तथा ब्रह्म (प्रकृति युक्त ब्रह्म) का विलास (कार्य-सब जगत्) को मेट कर (त्याग कर मिथ्या जान कर) जब मैं (जीव) मुक्त हुवा, तो अब मेरे लिये दुजा कोई पदार्थ सत्य नहीं रहा, केवल एक तुम्हारी (सर्वात्मा राम की) हो आशा है, या मैं को मेट कर मुक्त हुआ तो अपने को ब्रह्म का विलास (लीला) जाना और जगत को भी लीला मात्र जाना ॥ १४ ॥ हद में बैठा मनुष्य सांसारिक कथा करता है कि जिसको बेहद की गम (गति) नहीं है, जब बेहद की यात्रा होगी तब कुछ कहना नहीं रहेगा ॥ १५ ॥

कबीर[1] जीव जो हद के, तिन से मुखा न बोल ।
जब [2]मोलैं बेहद का, तिन सो [3]पडदा खोल ॥ १६ ॥

१ कबीर हद के जीव सो, हित करि मुखे न बोल ॥ २ राचे ॥ पा० ३ अन्तर ॥ पा० ॥

हदिया सेती हद रहो, वेहदिया वेहद्द।
जो जैसा जहं रोगिया, तहं तैसी औषद्द ॥ १७ ॥

हद रहैं सो मानवा, वेहद रहै सो साध।
हद वेहद दोनों तजै, ताका मता अगाध ॥ १८ ॥

जो जीव हद के अधिकारी खोजी हैं, उनसे मुख्य वेहद की बात नहीं बोलो, जब वेहद का अधिकारी जिज्ञासु मिलै, तो तिन से पड़दा खोल कर मुख्य सत्यात्मा की बात बोलो, उनके अज्ञानादि रूप पड़दा को खोल दो ॥ १६ ॥ हदिया (हद के खोजी) के साथ हद के बात व्यवहार युक्त रहो, और वेहदियों के साथ वेहद ही रहो; क्योंकि जो जैसा रोगी होता है, उसके लिये तैसी ही औषध की आवश्यकता होती है ॥ १७ ॥ वर्णाश्रमादि के हद में विवेक विचारादि सहित धर्मयुक्त रहनेवाला साधारण मनुष्य है, वेहद (वर्णादि के अभिमान रहित) विवेकी साधु है, हद वेहद दोनों को त्यागने वाला ग्रहण त्याग के अभिमान से रहित आत्मनिष्ठ परमहंस की मता अगाध है ॥ १८ ॥

इति वेहद का अंग ॥

इति चोरासी अंग का साखी ग्रन्थ समाप्त ॥

प्राचीन लेख से अधिक प्राप्त अंग ॥

अथ सेवक का अंग ॥ १ ॥

सेवक सेवा में रहै, अन्त कहूं नहिं जाय।
दुख सुख शिर ऊपर सहै, कहैं कबिर समुझाय ॥ १ ॥

सेवक सेवा में रहै, सेवक कहिये सोय।
कहैं कबिर सेवा बिना, सेवक कभी न होय ॥ २ ॥

सेवक मुखै कहावई, सेवा में दृढ नाहि।
कहैं कबिर सो सेवका, लख चौरासी मांहि ॥ ३ ॥

सेवक सेवा में रहै, सेव करै दिन रात।
कहैं कबीर कुसेवका, सनमुख ना ठहरात ॥ ४ ॥

सेवक[1] फल मांगै नहीं, सेव करै दिनरात।
कहैं कबिर ता दास पर, काल करै नहीं घात ॥ ५ ॥

अन्त (अन्यत्र), शिर ऊपर सहै (शिरोधार्य करे), मुखै (मुख से), सेव (सेवा), सन्मुख (स्वामी के सामने), घात (चोट-घावा) ॥ १–५ ॥

सेवक स्वामी एक मत, मत में मत मिलि जाय।
चतुराई रीझै नहीं, रीझै मन के भाय ॥ ६ ॥

सेवक कुत्ता राम का, मुतिया वाका नांव।
डोरी लागी प्रेम की, जित खैंचे तित जांव ॥ ७ ॥

तू तू करै त निकट ह्वै, दुर दुर करै त जाय।
ज्यों गुरु राखै त्यों रहै, जो देवै सो खाय ॥ ८ ॥

---

१ राम धनी याचे नहीं । १० ॥

फल कारन सेवा करै, निशदिन यांचै राम।
कहैं कबिर सेवक नही, चाहै चौगुन दाम ॥ ९ ॥

सब कछु गुरु के पास है, पाइये अपने भाग।
सेवक मन सौंप्या रहै, रहै चरन में लाग ॥ १० ॥

मत (सिद्धान्त-मति-मन), स्वामी सेवक एक (श्रेष्ठ-भेद कपट रहित) होना चाहिये। क्योंकि सर्वात्मा स्वामी चतुराई से नहीं प्रसन्न होता है, किन्तु मन की सद्भावना से प्रसन्न होता है ॥ ६ ॥ सद्भावना वाला सेवक राम का कुत्ता (निरभिमानी) होता है इसी से उसका नाम मोतिया (उज्जवल) है, और उसके गले (मन) में प्रेम की रस्सी लगी है, राम जिधर खींचता है, उधर हर्ष से जाता है ॥ ७ ॥ प्रारब्धानुसार आदर निरादर भोगादि जो मिलता है, उसमें प्रसन्न रहता है ॥ ८ ॥ फल कारण (फल के लिये), दाम (पैसा-नौकरी) ॥ ९ ॥ मनको सौंपे (अर्पें) रहे, और देह से चरण के आश्रित रहे ॥ १० ॥

सतगुरु शब्द उलंघि कर, जो सेवक कहुँ जाय।
जहां जाय तहँ काल है, कहैं कबिर समुझाय ॥ ११ ॥

सतगुरु बरजै सिष करै, क्यों करि बाचै काल।
दहुँ दिशि देखत बहि गया, पानी फूटी पाल ॥ १२ ॥

सतगुरु कहि जो शिष करै, सब कारज सिद्ध होय।
अमर अभय पद पाइये, काल न झांकै कोय ॥ १३ ॥

साहब को भावै नहीं, सो हम सो जनि होय।
सतगुरु लाजै आपना, साधु न मानै कोय ॥ १४ ॥

साहब जासो ना रुचै, सो हम सो जनि होय।
गुरु की आज्ञा में रहूं, बल बुधि आपा खोय ॥ १५ ॥

साहब के दरबार में, कमी काहु की नाहिं ।
बन्दा मौज न पावही, चूक चाकरी माहि ॥ १६ ॥

शब्द को उलंघि कर (नहीं मान कर) ॥ ११ ॥ जिस कार्य के लिये सतगुरु बरजै (मना करैं-रोकै) सोई कार्य यदि शिष्य करे, तो काल से किस प्रकार बांचे, वह देखते २ में चार खानि में बह गया कि जैसे पाल (बांध) फूटने से पानी बहता है ॥ १२ ॥ गुरु आज्ञाकारी के सब काम तथा मोक्ष होता है, क्योंकि किसी भक्त को काल नहीं देखता है ॥ १३ ॥ इसलिये जो साहब न भावै, सो शिष्य से नहीं होना चाहिये, क्योंकि उससे अपना सतगुरु लजाते हैं, और सन्त भी भला नहीं मानते हैं ॥ १४ ॥ साहब जिस कर्म से प्रसन्न न होयं, सो शिष्य से नहीं होना चाहिये, और राजस तामस बल बुद्धि को तथा ममता को खो कर गुरु की आज्ञा मे रहना चाहिये ॥ १५ ॥ क्योंकि साहब के दरबार में किसी भी पदार्थ की कमी नहीं है, परन्तु चाकरी (भक्ति) में चूक से बन्दा (दास) मौज (सुख) नहीं पाता है ॥ १६ ॥

द्वार धनी के पड़ि रहै, धका धनी का खाय ।
कबहुक धनी निवाजि है, जो दर छाड़ि न जाय ॥ १७ ॥

आस करै बैकुंठ की, दुर्मति तीनों काल ।
शुक्र कही बलि ना करी, ताते गयो पताल ॥ १८ ॥

गुरु आज्ञा मानै नहीं, चलै अटपटी चाल ।
लोक वेद दोनों गये, आगे शिर पर काल ॥ १९ ॥

गुरु आज्ञा के अनुसार धनी (साहब) के द्वार (भक्ति मार्ग) में पड़ रहे, और धनी का धका (ताड़ना) सहै, और दर (स्थान) को छोड़ कर कहीं नहीं जाय, तो धनी कभी अवश्य रक्षा करेगा ॥ १७ ॥ परन्तु जो दुर्मति त्रिकाल संध्या के समय वैकुंठ की आशा करता है, परन्तु गुरु

की आज्ञा नहीं मानता है, उसको राजा बली की दशा होती है, वैकुंठ के बदले पाताल में जाता है ॥ १८ ॥ गुरु की आज्ञा नहीं मान कर विरुद्ध चाल चलने वाला लोक सुख सुयश से और वेद बोधित परलोक सुख मोक्ष से वञ्चित रहता है, और काल आगे आगे शिर पर तैयार रहता है ॥ १६ ॥

भुक्ति मुक्ति मांगौ नहीं, भक्ति दान दे मोहि।
और कोइ यांचौं नहीं, निशदिन यांचौ तोहि ॥ २० ॥

यह मन ताको दीजिये, सांचा सेवक होय।
शिर ऊपर आरा सहै, तऊ न दूजा [1]होय ॥ २१ ॥

शीलवन्त सुर ज्ञान मत, अति उदार चित होय।
लजावान अति निछलता, कोमल हिरदा सोय ॥ २२ ॥

चतुर विवेकी धीर मत, छमावान बुधिमान।
आज्ञावान पर मत लिया, मुदित प्रफुल्लित जान ॥ २३ ॥

ज्ञानी अभिमानी नहीं, सब काहू सो हेत।
सत्यवान परमारथी, आदर भाव सहेत ॥ २४ ॥

षट दरशन को प्रेम करि, असन बसन सो पोष।
सेव करै हरिजनन की, हरषित पर संतोष ॥ २५ ॥

आज्ञाकारी सेवक की भावना होनी चाहिये कि मुझे भोगादि नहीं चाहिये, किंतु भक्ति चाहिये, सो भी सदा प्रभु से ही मिलने वाली है ॥ २० ॥ और प्रभु के लिये भी उचित है कि ऐसा मन उस को अवश्य दें, जो कि सांचा सेवक हो, अर्थात् सांचा सेवक को इच्छारहित वशीभूत मन दें, जो कि शिर पर आरा सहें, तो भी भेदभाव नहीं करे । २१ ॥ सुर ज्ञान मत (दैवी सम्पत्ति युक्त ज्ञान जिसको सम्मत) हो ॥ २२ ॥ धीर

१ जोय । पा० ॥

मत (धैर्य युक्त मति वाला), आज्ञावान (गुरु की आज्ञा को मानने वाला), परमत (उत्तम मत), लिया (धारण किया) हो, मुदित (आनन्द युक्त), विकसित जान (ज्ञान) हो ॥ २३ ॥ हेत (प्रेम), परमारथी (परोपकारी) हो, और सहेत (प्रेम सहित) दूसरे का आदर सत्कार करे ॥ २४ ॥ योगी आदि छौ दर्शन को भोजन वस्त्र से पालन करे, तथा हरिजनों की सेवा हर्ष और उत्तम संतोष युक्त होकर करे ॥ २५ ॥

यह सव लक्षण चित धरैं, अपलक्षण सवं त्याग।
सावधान सम ध्यान है, गुरु चरणन में लाग ॥ २६ ॥

सुरति सुहागिन सोइ सहि, जो गुरु आज्ञा माहि।
गुरु आज्ञा जो मेट ही, तासु कुशल ह्वै नाहिं ॥ २७ ॥

गुरु आज्ञा ले आवई, गुरु आज्ञा ले जाय।
कहै कविर सो सन्त प्रिय, वहुविधि अमृत पाय ॥ २८ ॥

कवीर गुरु औ साधु को, सीस नमावै जाय।
कहैं कबिर सो सेवका, महा परम पद पाय । २९ ॥

अपलक्षण (दुर्गुण), यही सावधानी और समता युक्त ध्यान है, जो गुरु चरणों में लगा है ॥ २६ ॥ वही सुरति वही सुहागिन (भाग्यवती) है, जो गुरु आज्ञा में है ॥ २७ ॥ सन्त का प्यारा वह जीव वहुत प्रकार के अमृत पाता है ॥ २८ ॥ महा परम पद (मोक्ष) ॥ २९ ॥

गुरु समरथ शिर पर खड़े, कहा कमि तोहि दास।
ऋद्धिसिद्धि सेवा करैं, मुक्ति न छाड़ै पास ॥ ३० ॥

दुख सुख शिर ऊपर सहैं, कवहु न छाड़ै संग।
रंग न लागै और का, व्यापै सतगुरु रंग ॥ ३१ ॥

धूमधाम सहता रहै, कवहु न छाडै संग।
पाहा विनु लागै नहीं, कपडा के बहु रंग ॥ ३२ ॥

कवीर गुरु सव को चहै गुरु को चहै न कोय।
जव लग आश शरीर की, तवलग दास न होय ॥ ३३ ॥

क्योंकि समर्थ (स्वामी) गुरु जिसके शिरोधार्य है, तिस तुझ दास को कमी क्या है ॥ ३० ॥ इसलिये प्रारब्धानुसार प्राप्त सुख दुख को भी शिरोधार्य करे. और समर्थ गुरु का संग कभी नहीं छोड़े, क्योंकि जो सद्गुरु के रंग से व्याप्त रहता है, उसमें अन्य रंग नहीं लगता है ॥ ३१ ॥ धूम धाम (उत्सवादि के क्षोभ) को भी सहता रहे, परन्तु कभी संग नहीं छोड़े, क्योंकि जैसे पाहा (पाक विशेष) विना कपड़ा के बहुत रग नहीं लगता है, तैसे सहने विना भक्ति का रंग नहीं लगता है ॥ ३२ ॥ गुरु सव के हित चाहते हैं, परन्तु दास हो कर कोई गुरु को नहीं चाहता है, क्योंकि जब तक शरीर की आशा है, तव तक दास नहीं होने पाता है ॥ ३३ ॥

कवीर गुरु के भावते, दूरहि ते दीसन्त।
तन छीना मन अनमना, जग ते रूठि फिरन्त ॥ ३४ ॥

कवीर खालिक जागिया, और न जागै कोय।
कै जागै विषया भरा, दास वन्दगी जोय ॥ ३५ ॥

निरवन्धन वन्धा रहै, वन्धा निरवन्ध होय।
करम करै करता नहीं, दास कहावै सोय ॥ ३६ ॥

दासातन हिरदै नहीं, नाम धरावै दास।
पानी के पीये विना, कैसे मिटै पियास ॥ ३७ ॥

दासातन हिरदै वसै, साधुन सो आधीन।
कहैं कविर सो दास है, प्रेम भक्ति लौलीन ॥ ३८ ॥

गुरु के भावते (प्रिय-भक्त) दूर से ही दीखते हैं, कि उनका तन दुबला और मन उपराम रहता है, तथा जगत से रूठि (स्नेह रहित) होकर

फिरते है ॥ ३४ ॥ खालिक (ईश्वर) जागा हैं, और कोई नहीं जागता है, अथवा प्रथम विषय से व्याप्त हुआ और सब बन्दगी (भक्ति) को जोहने (खोजने) वाला दास भी जागता है ॥ ३५ ॥ वह भक्त बन्धन बिना भी भक्ति की मर्यादा में बन्धा रहता है, और देहादि बन्धन रहते भी अभिमान रहित होने से निरबन्ध रहता है, इसी से कर्म करने पर कर्तृत्व का अभिमानी नहीं होता, सोई वस्तुतः दास कहाता है ॥ ३६ ॥ दास.तन (भक्ति का भाव), आधीन (नम्र ', लौलीन (मग्न) ॥ ३७–३८ ॥

दास दुखी तो हरि दुखी, आदि अन्त तिहुँ काल ।
पलक एक में प्रगट ह्वै, छिन में करैं निहाल । ३९ ॥

निष्कामी निर्मल दशा, नित चरणों की आश ।
तीरथ इच्छा ता करै, कब आवै सो दास ॥ ४० ॥

दास के दुःखी होने पर हरि मानो दुःखी होकर एक छन में प्रकट होकर आदि अन्त मध्य तीनों काल में छन भर में दुखी भक्त को निहाल (दुःख से मुक्त) करते हैं ॥ ३६ ॥ जो महात्मा निष्काम निर्मल दशा युक्त सदा रहते हैं, और जिनको हरिचरण की ही सदा आशा रहती है, उन की इच्छा तीर्थ सब भी करते हैं, कि वह दास मेरे पास कब आवेंगे ॥ ४० ॥

काजर केरी कोठरी, ऐसा यह संसार ।
बलिहारी वा दास की, पैठि जु निकसनहार ॥ ४१ ॥

काजर केरी कोठरी, काजर ही का कोट ।
बलिहारी वा दास की, रहै नाम की ओट ॥ ४२ ॥

कबिरा पांचो बलधिया, ऊजर ऊजर जाहिं ।
बलिहारी वा दास की, पकरि जु राखै बांहि ॥ ४३ ॥

धरती अम्बर जायगें, विनसेगा कैलास।
एकमेक हो जायगा, कहाँ रहैंगे दास ।४४॥

एकम एका होन दे, विनशन दे कैलास।
धरती अम्बर जान दे, मो में मेरे दास ॥ ४५ ॥

इति सेवक का अंग ॥

अथ यति का अंग ॥ २ ॥

सदा कृपालू दुख हरन, वैर भाव नहिं दोय।
क्षमा ज्ञान सतभाषि ये, हिंसा रहित जु सोय ॥ १ ॥

दुख सुख एक समान है, हरष शोक नहिं व्याप।
उपकारी निष्कामता, उपजे छोह न ताप ॥ २ ॥

इन्द्रिय दमन निग्रह करण, हृदया कोमल होय।
सदा शुची आचार सो, रह विचार सो सोय ॥ ३ ॥

और देव नहिं चित बसै, विनु प्रतीति भगवान।
मिलि आहार भोजन करै, तृष्णा चलै न जान ॥ ४ ॥

सदा रहै संतोष में, धरम आप दृढ धारि।
आश एक भगवान की, और न चित्त विचारि ॥ ५ ॥

दोय (द्वैत भाव) नहीं होने से वैर भाव नहीं हो, और कृपालु होने से सदा दुख का हरन करें, ये सन्त क्षमा ज्ञान सत्य भाषण युक्त होते हैं, और हिंसा रहित ही सो होते है ॥ १ ॥ हर्ष शोक नही व्यापता है, इससे निष्कामता पूर्वक परोपकार स्वभाव से करते हैं, तहां भी क्षोभ संताप नहीं होता है ॥ २ ॥ वाह्य इन्द्रियों का दमन और अन्तःकरण का निग्रह करते हैं, बुद्धि कोमल होती है, सो सदाचार से शुची (पवित्र) रहते

हैं, और सो सन्त आत्मविचार से युक्त रहते हैं ॥ ३ ॥ भगवान (सर्वज्ञ सर्वेश्वर) की प्रतीति विनु अन्य देव मन में नहीं वसते, और सहज में मिली वस्तु रूप आहार का भोजन करते हैं, तृष्णा से कहीं चलना नहीं जानते । ४–५ ।

सावधान औ शीलता, सदा प्रफुल्लित जान ।
निर्विकार गम्भीर मत, धीरजवान बखान ॥ ६ ॥

षटहुँ विकार शरीर के, तिन को चित्त न लाय ।
शोक मोह प्यास हि क्षुधा, जरा मृत्यु नशि जाय ॥ ७ ॥

मानाऽमान न चित्त धरै, औरन को सनमान ।
जो कोई आशा करै, उपदेशै तिहि ज्ञान ॥ ८ ॥

सकल कुटिलता छाडि कै, सब सो मित्र हि भाव ।
कृपावान सम ज्ञानवत, वैर भाव नहि काव ॥ ९ ॥

निश्चय भलि अरु दृढ मति, ये सब लक्षण जान ।
सोइ साधु है जगत में, जो यह लक्षणवान ॥ १० ॥

ऐसा साधू खोजि के, रहिये चरणों लाग ।
मिटै जनम की कल्पना, जाके पूरण भाग ॥ ११ ॥

शीलता (सद्वृत्तता), मत (मति) । ६ । देह के छौ विकार को मन में नहीं लावे, तो शोकादि नष्ट हो जायें ॥ ७ ॥ आशा (ज्ञान की इच्छा) करे ॥ ८ ॥ सम ज्ञानवत (समतत्त्व के ज्ञानवाला) होवे कि जिससे किसी से वैर भाव नहीं हो ॥ ९ ॥ भली (पवित्र) और दृढ बुद्धि निश्चय रूप हो, ये सब यति साधु के लक्षण जानो ॥ १० ॥ जन्मादि की कल्पना (भ्रमादि) मिट जाय ॥ ११ ॥

इति यति का अंग ॥

अथ भीख का अंग ॥ ३ ॥

मांगन मरन समान है, सीख दई मैं तोहि।
कहैं कबिर सतगुरु सुनो, मति रे मँगाउ मोहि ॥ १ ॥

माँगन मरन समान है, तोहि दई मैं सीख।
कहैं कबिर समुझाय के, मति कोइ मांगे भीख ॥ २ ॥

मांगन गे सो मर रहे, मरैं जु मांगन जाहिं।
तिन ते पहिले वे मरे, होत कहत हैं नाहिं ॥ ३ ॥

उदर समाता माँगि ले, ताको नाहीं दोष।
कहैं कबिर अधिका गहै, ताकी गति न मोष ॥ ४ ॥

अजहूं तेरा सब मिटैं जो माने गुरु सीख।
जब लग तूं घर में रहै, मति कहुं मांगे भीख ॥ ५ ॥

मांगना मरना तुल्य है, यह शिक्षा तुझे दी गई, सद्गुरु से प्रार्थना सुनाई जाती है कि मुझे भीख नहीं मँगाओ ॥ १ ॥ मांगन मरन तुल्यता का उपदेश दिया गया है और समझा कर कहा जाता है कि भिक्षा नहीं मागों ॥ २ ॥ क्योंकि जो मांगने गये सो मर चुके, मांगने जा रहे हैं, सो मर रहें हैं, परन्तु इन दोनों से पहले वे मरते हैं कि जो वस्तु के रहते भिक्षुक से नष्ट हो जाते हैं ॥ ३ ॥ पेट भर के अन्न मांग ले तो भिक्षुक को दोष नहीं है, अधिक का ग्रहण करने पर सुगति वा मोक्ष नहीं है ॥ ४ ॥ यदि गुरु की शिक्षा को माने तो अब भी तेरा सब दोष मिटे, वह शिक्षा यह है कि जब गृह में रहो, तब कहीं भीख नहीं मांगो॥ ५ ॥

उदर समाता अन्न ले, तन हि समाता चीर।
अधिका संग्रह ना करै, ताका नाम फकीर ॥ ६ ॥

अनमागा तो अति भला, मांगि लिया नहिं दोष ।
उदर समाता मांगि ले, निश्चय पावं मोष ।। ७ ।।

अनमागा उत्तम कहा, मध्यम मांगि जु लेय ।
कहैं कबीर निकृष्ट सो, पर घर धरना देय ।। ८ ।।

सहज मिले सो दूध है, मांगि मिलै सो पानि ।
कहैं कबिर वह रक्त है, जामें ऐंचातानि ।। ९ ।।

आव गया आदर गया, नैनन गया सनेह ।
ये तीनो तब ही गये, जबहि कहा कछु देह ।। १० ।।

बदन समाता चीर, भी पाठ है। फकीर (विरक्त साधु) ।। ६ ।। अनमांगा (माँगने विना मिला) अत्यन्त शुभ जीविका हैं । ।। ७ ।। निकृष्ट (नीच अधम) वृत्ति वह है जो दूसरे के घर में अन्नादि के लिये धरना देने से होती हैं ।। ८ । सहज (मांगने आदि बिना) रक्त (रुधिर) ऐंचातानी (हठविवाद) । ९ ।। आव (इज्जत-तेज) आदर और नैनों से स्नेह पूर्वक दर्शाया गया, ये तीनों उसी क्षण में चले गये कि जब देने के लिये कहा ।। १० ।।

भीख तीन प्रकार की, सुनहु सन्त चित लाय ।
दास कबिर परगट कहै, भिन्न भिन्न अर्थाय ।। ११ ।।

उत्तम भीख है अजगरी, सुनि लीजै निज बैन ।
कहैं कबिर ताके गहै, महा परम सुख चैन ।। १२ ।।

भँवर भीख मध्यम कही, सुनो सन्त चित लाय ।
कहैं कबिर ताके गहै, मध्यम माहिं समाय ।। १३ ।।

खर कूकर की भीख जो, निकृष्ट कहावै सोय ।
कहैं कबिर इस भीख में, मुक्ति न कबहूं होय ।। १४ ।।

अर्थाय (अर्थ समझा कर) भक्तों से प्रगट कहा जाता है ।। ११ ।। अजगरी (अजगर के समान स्थिर रहने में प्राप्त) उत्तम है, यह निज हित की बात सुनो। महासुख और परम चैन (स्वतन्त्रता) ।। १२ ।। भंवर तुल्य थोरा २ प्रेम से लेना मधुकरी वृत्ति है, इससे मध्यम सुख चैन प्राप्त होता है ।। १३ ।। खर कूकर के समान दूर २ करके जो भीख मिलती है, सो अधम हैं ।। १४ ।।

इति भीख का अंग ।।

अथ स्वार्थ का अंग ।। ४ ।।

स्वारथ का सब को सगा, सारा ही जग जान।
विनु स्वारथ आदर करे, सो नर चतुर सुजान ।। १ ।।

निज स्वारथ के कारने, सेव करैं संसार।
विनु स्वारथ भक्ती करै, सो भावै करतार ।। २ ।।

स्वारथ कूं स्वारथ मिलै, पड़ि पड़ि लूम्बालूम्ब।
निष्प्रेही निरधार को, कोइ न राखै झूम्ब ।। ३ ।।

माया कूं माया मिलै, कर कर लम्बे हाथ।
निष्प्रेही निरधार को, गाहक दीनानाथ ।। ४ ।।

माया कूं माया मिलै, लम्बी करके पांख।
निर्गुन को चीन्हैं नहीं, फूटी चारो आंख ।। ५ ।।

संसारी से प्रीतड़ी, सरै न एको काम।
दुविधा में दोनो गये, माया मिले न राम ।। ६ ।।

सगा (सबन्धी) ।। १ ।। सेव (सेवा) स्वार्थ रहित सेवा करने वाला ईश्वर का प्रिय होता है ।। २ ।। लम्बे पड़ २ कर स्वार्थी को स्वार्थी मिलता

है, निस्पृह निराधार (स्वार्थ रहित) को कोई भी झुक कर आदर पूर्वक नहीं रखता है ॥ ३ ॥ माया (मायावी धनी), गाहक (ग्रहीता-रक्षक) दीन का सर्वथा नाथ (ईश्वर) हैं ॥ ४ ॥ पांख (पक्ष-हाथ-अंक), निर्गुन (आत्मा-तथा निर्धन), चारों (विवेक-विज्ञान और बाहर के) आंख फूटी है, ॥ ५ ॥ प्रीतड़ो (प्रीति) से एको काम सरता (बनता) नहीं है, ॥ ६ ॥

इति स्वार्थ का अंग ॥

——

अथ परमारथ का अंग ॥ ५ ॥

परमारथ पाको रतन, कबहुं न दीजै पीठ।
स्वारथ सेंभल फूल है, कली अपूठी पीठ ॥ १ ॥

प्रीत रीत सब अर्थ की, परमारथ की नाहिं।
कहैं कबिर परमारथी, बिरला ह्वै कलिमांहि ॥ २ ॥

सुख के संगी स्वारथी, दुख में रहते दूर।
कहैं कबिर परमारथी, दुख सुख सदा हजूर ॥ ३ ॥

जो कोइ कर सो स्वारथी, अरस परस गुन देत।
किये बिना कर सूरमा, परमारथ के हेत ॥ ४ ॥

आप स्वारथी मेदिनी, भक्ति स्वारथी दास।
कबीर जन परमारथी, डारी तन की आस ॥ ५ ॥

स्वारथ सूखी लाकड़ी, छाह बिहूना सूल।
पीपल परमारथ भजो, सुख सागर का मूल ॥ ६ ॥

धन रहै न जोबन रहै, रहै न गाम न ठाम।
कबीर जग में जस रहै, कर दे किसका काम ॥ ७ ॥

पक्का रत्न तुल्य जो परम (श्रेष्ठ) अर्थ है, उससे कभी पीठ नहीं दो, स्वार्थ तो सीमर का फूल के तुल्य है, कि जिसकी कली भी अपूठी (अपनी तुच्छ) पीठ तरफ लौटती है ॥ १ ॥ संसार की सब प्रीति की रीति धन की ही कलियुग में है, परमारथी विरला होता है ॥ २ ॥ अरस परस (परस्पर) जो कोई किसी का गुन (हित) करता है, या कुछ देता है, सो स्वार्थी होकर के ही करता है। परमार्थ के लिये कोई सूरमाही कुछ दिये बिना भी करता है, सोई दूसरे के सुख दुख में सदा हजूर रहता हैं, सुख का साथी तो स्वार्थी भी होता हैं, जो दुःख में दूर भागता है। ३-४ ॥ अपने स्वार्थ के संगी तो पृथ्वी के निवासी आदि सब हैं या म्लेच्छु भूमि है, भक्त जीव भक्ति को ही स्वार्थ समझता है। परमार्थी जन देह की आशा को त्यागते हैं॥ ५ ॥ क्योंकि छाया रहित सूखी लकड़ी तुल्य शूल कारक स्वार्थ है, इसलिये पवित्र वृक्ष पीपर के तुल्य परमार्थ को भजो कि जो सुखसागर का मूल है ॥ ६ ॥ संसार में धनादि कुछ नहीं रहता है किन्तु यश रहता है, इसलिये किसी का काम (उपकार) कर दो ॥ ७ ॥

इति परमारथ का अंग ॥

अथ आत्मानुभव का अंग ॥ ६ ॥

आतम अनुभव सूख की, जो कोइ बूझै बात।
कै जो कोई जानई, कै अपनो ही गात ॥ १ ॥

आतम अनुभव जब भयो, तब नहिं हर्ष विषाद।
चित्र दीप सम ह्वै रहे, तजि करि वाद विवाद ॥ २ ॥

आतम अनुभव ज्ञान की, जो कोइ पूछै बात।
सो गूंगा गुड खाय के, कहै कौन मुख स्वाद ॥ ३ ॥

ज्यों गूंगा के सैन को, गूंगा ही पहिचान।
त्यों ज्ञानी के सूख को, ज्ञानी ह्वै सो जान ॥ ४ ॥

आत्मानुभव जन्य सुख की बात यदि कोई पूछता है, तो वह कहने से नहीं समझ सकता, किन्तु जब कोई साधन करके आत्मा को जानता है, तभी उस सुख को जानता है, ज्ञानी भी उसे ज्ञान का साधनहीं बता सकता है, या अपने ही शरीर में अनुभव कर सकता है, अन्यत्र अनुभव नहीं दे सकता ॥ १ ॥ आत्मानुभव का चिन्ह यह है कि हर्ष शोकादि छूट जाता है, और देहाभिमान रहित होने से ज्ञानी चित्र रूप दीप के समान होकर रहता है, वादादि नहीं करता ॥ २ ॥ गूंगा मुख से गुड़ खाता है, परन्तु मुख से स्वाद नहीं कह सकता, तैसे ही आत्मानुभव रूप ज्ञान की बात भी वाणी का अविषय है ॥ ३ ॥ परन्तु जैसे गूंगा की सैन को गूंगा जानता है, तैसे ज्ञानी के सुख को ज्ञानी जानता है, ॥ ४ ॥

नर नारी के सूख को, खसी नहीं पहिचान।
त्यों ज्ञानी के सूख को, अज्ञानी नहि जान ॥ ५ ॥

ताको लक्षण को कहै, जाको अनुभव ज्ञान।
साध असाध न देखिये, क्यों करि करूं बखान ॥ ६ ॥

कागद लिखे सो कागदी, की व्यवहारी जीव।
आतम दृष्टि कहां लिखे, जित देखे तित पीव ॥ ७ ॥

लिखा लिखी की है नहीं, देखा देखी बात।
दुल्हा दुलहिन मिल गये, फीकी पड़ी बरात ॥ ८ ॥

खसी (नपुसक) ॥ ५ ॥ जिसको आत्मानुभव रूप ज्ञान हुआ है, उस ज्ञानी के भी वस्तुतः लक्षण को कौन कह सकता है, जो कि साधु वा असाधु भी देखने में नहीं आता, उसका व्याख्यान कैसे किया जाय

॥ ६ ॥ लिखना भी उसका लक्षण नहीं हो सकता, क्योंकि कागज पर कागदी (कागज वाला । वा अन्य व्यवहारी जीव लिखता है, वह ज्ञानी आत्मदृष्टि (ज्ञान) को कहां लिखेगा, वह तो जहां देखता है तहां सर्वात्मा प्रिय ही उसे सत्य दीखता है, कागजादि नहीं ॥ ७ ॥ और अनादि काल से लिखा हुआ पदार्थ को लिखने की कोई जरूरत नहीं है, किन्तु सद्गुरु से देखा हुआ कि देखी (दृष्टि) की जरूरत है, ऐसा होने से दुलहिन बुद्धि दुलहा आत्मा के मिल जाने से संसार के व्यवहार तुच्छ हो जाते हैं ॥ ८ ॥

स्याम सब्ज विधि पञ्च जे, पीत अरुण अरु सेत ।
चक्षूमान अचक्षु को, ज्यों नहिं उपमा देत ॥ ९ ॥

ज्ञान भक्ति वैराग्य सुख, पीव ब्रह्म लौ धाय ।
आतम अनुभव सेज सुख, तहां न दूजा जाय ॥ १० ॥

ज्ञानी युक्ति सुनाइया, को सुनि करै विचार ।
सूरदास की इस्तिरी, का पर करै सिंगार ॥ ११ ॥

ज्ञानी भूले ज्ञान कथि, निकट रहा निज रूप ।
बाहिर खोजै बापुरे, भीतर वस्तु अनूप ॥ १२ ।

स्याम (काला) सब्ज (हरा), पीत (पीला), अरुण (लाल) और श्वेत, ये पांच प्रकार के जो रूप हैं, आंख वाला आंख रहित को जैसे इनकी उपमा नहीं देता है, तैसे ज्ञानी अज्ञ से आत्मानुभव की बात नहीं करते हैं ॥ ९ ॥ ज्ञान (विवेक) भक्ति वैराग्य के सुख (शम दमादि) को और ईश्वर ब्रह्म को भी ध्यान से समझने पर जो आत्मानुभव शय्या का सुख (परमानन्द) होता है, तहां ज्ञानी के विना दूसरा जा नही सकता है ॥ १० ॥ परन्तु वहां जाने के लिये ज्ञानी लोग युक्ति सुनाये हैं, उसको सुन कर भी विचार कौन करता है, और विचार नहीं करने पर

सूर की स्त्री तुल्य अविवेकी की बुद्धि साधन सींगार किस के बल पर करे ॥ ११ ॥ इससे ज्ञानी जिस (ज्ञान) युक्ति को कथा रूप से कहा, उस युक्ति को अविवेकी भूल गये, इसी से वे बावरे बाहर सुखादि खोजते हैं, और निज स्वरूप अनूप वस्तु भीतर में अति निकट ही रहता है, उसे नहीं जानते हैं ॥ १२ ॥

भीतर तो भेदा नहीं, वाहिर कथैं अनेक।
जोपै भीतर लखि परैं, भीतर वाहिर एक ॥ १३ ॥

नैंन समाने नैंन में, बैंन समाने बैंन।
जीव समाने वूझ में, रहै ऐन के ऐन ॥ १४ ॥

झारी फांसी कूप में, भभकी पानी मांहि।
भरैं भभक सव मिटि गई, अव कछु कहनी नाहिं ॥ १५ ।

भरा होय तो रीतई, रीता होय भराय।
रीता भरा न पाइये, अनुभव सोइ कहाय ॥ १६ ।

भीतर की आत्म वस्तु जिसके चित्त में नहीं भेदा (पैठा) वह बाहर की अनेक का कथन करता है, यदि भीतर की वस्तु समझ में आ जाय तो बाहर भीतर एक ही सत्य दीखने लगे ॥ १३ ॥ फिर बाहर के नेन (नेत्रादि ज्ञानेन्द्रिय) (श्रोत्रस्य श्रोत्रम्) केन १ । २) इत्यादि श्रुति कथित अन्तर के ज्ञानशक्ति से समाती हैं, उससे पृथक् इनकी सत्ता नहीं भासती है, और बैन (वागादि कर्मेन्द्रिय) भीतर के वाक् आदि की शक्ति में समाती है, फिर जीव को अनुभव में लीन होने पर बाहर भीतर एक ऐन की ऐन (सत्यस्य सत्यम् इति, प्राणाः सत्यं तेषामेष सत्यम् । बृहदा॰ २ । ३ । ६) इस वचन वर्णित सत्यों का सत्य रहता हैं ॥ १४ ॥ फिर जैसे झारी को कूप में फांसने (बांध कर डारने) से प्रथम भभक शब्द करता है, फिर भरने पर सब भभक मिट जाती है, तैसे ज्ञानी

को रागद्वेषादि पूर्वक कुछ कहना बाकी नहीं रहता है ॥ १५ ॥ सांसारिक सुख सम्पत्ति आदि से जो भरा है, सो कभी उससे रीता (खाली) भी होता है, और खाली होता है, सो फिर कभी भरता है, परन्तु इस आत्मानुभव दशा में जिस अविद्या कामादि से ज्ञानी रीता (रहित) हुआ, उन से भरा उसे कभी नहीं पा सकते, तथा जिस सत्यों का सत्य से भरा उससे खाली नहीं पा सकते, यही आत्मानुभव कहा जाता हैं, इस अवस्था में एक रस स्थिति होती है ॥ १६ ॥

कहा सिखापन देत हो, समुझि देख मन माहिं।
सबे हरफ है द्वात महँ, द्वात न हरफन माहिं ॥ १७ ॥
सुखपत माँही सब गले, मन बुधि चित परकाश।
छिनक मांहि परलय भया, को ठाकुर को दास ॥ १८ ॥

हो (हे) मनुष्यों ! शिक्षा कहाँ तक देते रहें, या तुम किसी को बाहर क्या समझाते हो, अपने मन में ही विवेक करके उस सत्य का सत्य देखो, वह मन का भी मन है, और यह समझो कि द्वात में सब अक्षर का मूल स्याही है, परन्तु द्वात अक्षर लेख में नहीं है, अर्थात् सत्य का सत्य में सब कार्य देहेन्द्रियादि का मूल माया है, परन्तु वह वस्तुतः देहेन्द्रियादि में नहीं है, क्योंकि वह असंग और विभु है, ससंग एक देशी में समा नहीं सकता है ॥ १७ ॥ और जैसे सुषुप्ति में मन बुद्धि चित्त इन सब का प्रकाश (प्रकट स्वरूप) गलता (लीन होता) है। तैसे ही ज्ञान प्रलय में जब क्षण में सब का प्रलय हुआ, तब ठाकुर और दास भी कौन रहा, केवल सत्य का सत्य ही रहा ॥ १८ ॥

जागृत जागृत सांच है, सोवत सपना सांच।
देह गये दोऊ गये, ज्यों भगली का नाच ॥ १९ ॥
अंधरे को हाथी ज्यों, सब काहू को ज्ञान।
अपनी अपनीं कहत हैं, काको धरिये ध्यान ॥ २० ।

अन्धे मिलि हाथी छुआ, अपने अपने ज्ञान।
अपनी अपनी सब कहै, किस को दीजै कान॥ २१॥

अँधरन को हाथी सही, हैं साचे सघरे।
हाथन को टोई कहै, आंखिन के अँधरे॥ २ ॥

अंधों का हाथी सही, हाथ टटोल टटोल।
आंखों से नहिं देखिया, ताते भिन भिन बोल॥ २३॥

जाग्रत काल की वस्तु जाग्रत में और स्वप्न काल की स्वप्न में सांच हैं, परन्तु जाग्रत स्वप्न के स्थूल सूक्ष्म देह के अभाव काल में दोनों वस्तु ऐसे गये कि जैसे भगली (जादूगरी) के नाच जाता है॥ १९॥ देह द्वय काल में सब अङ्गों को अन्धों के हाथी के ज्ञान तुल्य ज्ञान है, और सब ज्ञान के अनुसार कहते हैं, किन की बात पर ध्यान दिया जाय॥ २०॥ अपने अपने ज्ञान के अनुसार सब कहते हैं, किसकी बात को कान देकर सुना जाय॥ २१॥ सघरे (सर्वत्र) देखने बिना भिन्न २ बोलते हैं॥ २२–२३॥

दूजा हूं तो बोलिये, दूजा झगरा सोहि।
दो अंधो के नाच में, कापैं काको मोहि॥ २४॥
निरजानी सो कहिय का, कहत कबीर लजाय।
अन्धे आगे नाचने, कला अकारथ जाय॥ २५॥

बचन वेद अनुभव युगुति, आनन्द की परछाँहि।
बोध रूप पुरुष अखंडित, कहवे मैं कछु नाहि॥ २६॥

बूझ सरीखी बात है, कहन सरीखी नाहिं।
जे ते ज्ञानी देखिये, ते ते संशय माहिं॥ २७॥

ज्ञानी तो निर्भय भया, मानै नाहीं संक।
इन्द्रिन केरे वशि पड़ा, भुगते नरक निसंक॥ २८॥

ज्ञानी मूल गमाइया, आप भया करता।
ताते संसारी भला, सदा रहै डरता ॥ २९ ॥

दूसरी वस्तु सत्य हो तो कही जाय, परन्तु सो भी झगरा रूप ही है। दो अन्ध तुल्य दो अज्ञ की वात में कौन किससे मुग्ध हो ॥ २४ ॥ निरजानी (अज्ञ-अविवेकी) ॥ २५ ॥ वेद वचन (शब्द प्रमाण), अनुभव (प्रत्यक्ष प्रमाण) और युक्ति (अनुमान) ये सब भी आनन्दस्वरूप आत्मा की छाया है, उसी के बल से वस्तु को प्रकाशते हैं ॥ २६ ॥ सो समझने की वात हैं, केवल कहने की नहीं। समझने विना कहने वाले शास्त्रज्ञ भी संशय ग्रस्त हैं ॥ २७ ॥ शास्त्र ज्ञान मात्र से निर्भय होकर इन्द्रिय के अधीन लोग नरक में जाते हैं ॥ २८ ॥ क्योंकि मूल तत्त्व को गमा कर कर्तृत्वादि के अभिमानी भी होते हैं ॥ २९ ॥

इति आत्मानुभव का अंग ॥

अथ एकता का अंग ॥ ७ ॥

अलख इलाही एक है, नाम धराया दोय।
कहैं कबिर दो नाम सुनि, भरम पड़ो मति कोय ॥ १ ॥

राम रहीमा एक है, नाम धराया दोय।
कहैं कबिर दो नाम सुनि, भरम पड़ो मति कोय ॥ २ ॥

कृष्ण करीमा एक है, नाम धराया दोय।
कहैं कबिर दो नाम सुनि, भरम पड़ो मति कोय ॥ ३ ॥

काशी कावा एक है, एके राम रहीम।
मैदा इक पकवान बहु, बैठि कबीरा जीम ॥ ४ ॥

राम कवीरा एक है, दूजा कवहुँ न होय।
अन्तर टाटी भरम की, ताते देखै दोय॥ ५॥

राम कवीरा एक है, कहन सुनन को दोय।
दो करि सोई जानई, सतगुरु मिला न होय॥ ६॥

अलख (ईश्वर), इलाही (खुदा), कावा (मक्का), जैसे एक आटा के अनेक पकवान वनता है, तैसे एक आत्मा के औपाधिक अनेक स्वरूप हैं, एकान्त में वैठ कर शुद्धस्वरूप को विचारो समझो ॥ १-४॥ कवीरा (जीव), टाटी (पड़दा ॥ ५॥ कहन सुनन को (व्यवहार के लिये) व्यवहारिक स्वरूप अनेक है, पारमार्थिक स्वरूप में दो करके वही समझता है कि जिसको सतगुरु नहीं मिले हैं॥ ६॥

एक वस्तु के नाम वहु, लीजै वस्तु पिछान।
नाम पच्छ नहि कीजिये, सार तत्त ले जान॥ ७॥

नाम अनन्त जु ब्रह्म का, तिन का वार न पार।
मन मानै सो लीजिये, कहैं कवीर विचार॥ ८॥

सव काहू का लीजिये, सांचा शव्द निहार।
पच्छपात ना कीजिये, कहैं कवीर विचार॥ ९॥

हरि का वना सरूप सव, जेता यह आकार।
अच्छर अर्थ यों भाखिये. कहैं कवीर विचार॥ १०॥

देखन ही की वात है, कहने को कछु नाहि।
आदि अन्त को मिलि रहा, हरिजन हरि ही मांहि॥ ११॥

सबै हमारे एक हैं, जो सुमिरैं हरि नाम।
वस्तु लही पहिचानि के, वासन सो क्या काम॥ १२॥

नाम के पक्षपात नहीं करके सारतत्त्व को जान लेना चाहिये ॥ ७॥ तिनका (नामका), निहार (देख-समझ) लीजिये। मायाद्वारा हरि का ही

यह सब स्वरूप बना है, कि जितना यह आकार है, और अक्षर (शब्द) में जैसे अर्थ रहता है, तैसे भी आकार में हरि कहे जाते हैं, तथा अक्षर (अविनाशी) अर्थ भी इस प्रकार में कहा जाता है ॥ ८-१० ॥ जानने की बात है. कहने की नहीं, जान कर ही हरिजन हरि में सदा मिल रहे हैं ॥ ११ ॥ इस प्रकार हरि नाम स्मरने वाले सब मेरे एक स्वरूप हैं, उस एक को समझना चाहिये, देह से क्या काम है ॥ १२ ॥

खांड़ खिलौना दो नहीं, खांड़ खिलौना एक ।
तैसे सब जग देखिये, किये कबीर विवेक ॥ १३ ॥
खांड़ खिलौना तुम कहौं, एक अहै नहिं दोय ।
नाम रूप दीसें पृथक्, हस्ती घोड़ा सोय ॥ १४ ॥
उपजै एकै खांड़ ते, हस्ती घोड़ा ऊंट ।
खांड विचारै पाइया, नाम रूप सब झूट ॥ १५ ॥
कबीर लोहा एक है, घड़ने में है फेर ।
ताही का बखतर बना, ताही का समसेर ॥ १६ ॥
त्यों ही एकै ब्रह्म ते, जीव ईश जग जान ।
ब्रह्म विचारे पाइया, नाम रूप को हान ॥ १७ ॥
जीव ब्रह्म ब्योरा नहीं, जीव ब्रह्म इक अंग ।
ज्यों कनक कुंडल मृद्घट, सारा फेन तरंग ॥ १८ ॥

विवेक करने पर खिलौना में खांड तुल्य जगत में ब्रह्म को देखो ॥ १३ ॥ खांड़ादि नाम भले ही तुम पृथक् कहो ॥ १४ ॥ विचारने पर सब खिलौना में खांड ही पाइये ॥ १५ ॥ घड़ने (गढ़ने) में भेद है, बखतर (कवच) समसेर (तरवार) ॥ १६ ॥ ब्योरा (भेद) इक अंग (एक स्वरूप) है, परन्तु जैसे सोना से कुण्डल, मिट्टी से घट रूप विवर्त होता है, तैसे सारा संसार ब्रह्म समुद्र के फेन तरंग तुल्य है ॥ १७-१८ ॥

इति एकता का अंग ।

अथ अविहड का अंग ॥ ८ ॥

अविहड अखंडित पीव है, ताका निरभय दास।
तीनों गुन को मेलि के, चौथे किया निवास ॥ १ ॥

कबीर साथी सोई किया, दुख सुख जाहि न कोय।
हिल मिल के संत खेलई, कबहु विछोह न होय ॥ २ ॥

आदि अन्त अरु मध्य लौं, अविहड़ सदा अभंग।
कवीर उस करतार का, कभी न छाड़ै संग ॥ ३ ॥

जिहि घट जान विजान, तेहि घट अघटन घना।
विनु खांडे संग्राम, नित उठि मन सो जूझना ॥ ४ ॥

कबीर सिरजनहार विनु, मेरा हित्त न कोय।
गुन अवगुन बेडै नहीं, स्वारथ बांधा लोय ॥ ५ ॥

अनहद बाजै निझर झर, उपजै ब्रह्म गियान।
अविगत अन्तर परगटै, लागै परम धियान ॥ ६ ॥

अखंड होने से अविहड (अविनाशी शान्त-सम) स्वरूप प्रभु है, उसका दास तीन गुण को मेलि (त्याग) कर शुद्ध स्वरूप में निवास किया है ॥ १ ॥ संत से हिलमिल कर खेलता है, विछोह (वियोग), ॥ २ ॥ अभंग (अविनाशी) ॥ ३ ॥ जान विजान (ज्ञान विज्ञान), अघटन (कठिनाई), घना (वहुत) ॥ ४ ॥ वेडै नहीं (विवेक करता नहीं ॥ ५ ॥ विवेक करने पर अनहद वाजता है, निझर (अविनाशी) आनन्द झरता है (मिलता है), क्योंकि ब्रह्म ज्ञान के उपजने से अन्तर में अविगतात्मा प्रकट होता है, और परम ध्यान लग जाता है ॥ ६ ॥

इति अविहड का अंग ॥

अथ कसौटी का अंग ॥ ९ ॥

सन्त सरवस दे मिले, गुरू कसौटी खाय।
राम दोहाई सत कहूं. फेरि न उदर समाय ॥ १ ॥

खरी कसौटी राम की, कांचा टिकै न कोय।
राम कसौटी जो सहै, जीवत मिरतक होय ॥ २ ॥

खरी कसौटी तोलतां, निकसि गई सब खोंट।
सतगुरु सेना सब हनी, शब्द बान की चोट ॥ ३ ॥

हीरा पाया पारखी, घन म्हैं दीन्हा आन।
चोट सही फूटा नहीं, तब पाई पहिचान ॥ ४ ॥

सोने रूपे धाह दइ, उत्तम हमरी जात।
बन ही में को घूंघुची, तोली हमरे साथ ॥ ५ ॥

तोल बराबर घूंघुची, मोल बराबर नांहि।
मेरा तेरा पटतरा, दीजै आगी मांहि ॥ ६ ॥

सन्त जन सर्वस्व देकर गुरु से मिलते हैं, और गुरु की कसौटी सहते हैं, जिससे फिर गर्भ में नहीं आते हैं ॥ १ ॥ परन्तु उस राम की खरी (सच्ची) कसौटी पर कच्चा कोई नहीं टिक सकता है ॥ २ ॥ खोंट (दोष) सब, खरी कसौटी पर तोलने (कसने) से निकल जाते हैं, क्योंकि दोष की सब सेना को सद्गुरु शब्द की चोट से नष्ट करते हैं ॥ ३ ॥ सोना रूपा को अग्नि में जलाने से उसकी जाति उत्तम हो जाती है, परन्तु बन के घूंघुचीं के साथ उसको तोलना ठीक नहीं अर्थात् सन्त को असन्त के साथ गिनना उचित नहीं है ॥ ५ ॥ पठतरा (तुल्यता) ॥ ६ ॥

इति कसौटी का अंग ॥

———

अथ आनदेव का अंग ॥ १० ॥

आनदेव की आश करि, मुख मेले मद मांस।
जाके जन भोजन करे, निश्चय नरक निवास ॥ १ ॥

होम कनागत कारने, सांकट रांधा खाय।
जीवत विष्ठा श्वान की, मूआ नरके जाय ॥ २ ॥

आरा नारा कारने, जेता रल मल खाय।
जीवत जन्म हि स्वान का, पीछे नरकैं जाय ॥ ३ ॥

सांकट हित को जाय के, सरमासरमी खाय।
कोटि जनम नरके पड़ैं, तौ न पेट अघाय ॥ ४ ॥

कन्या वल अरु कारने, आनदेव को खाय।
सो नर ढोले बाजते, निश्चय नरकैं जाय ॥ ५ ॥

कामि तरै क्रोधी तरै, लोभी की गति होय।
सलिल भक्त संसार में, तरत न देखा कोय ॥ ६ ॥

आन (हरि से भिन्न), मेले (देवे), मद्य मांसाहारी के यहां जाकर जो भक्त भोजन करे ॥ १ ॥ होम के लिये वा कन (कण धान्यांश, कनक) के आगत (प्राप्ति) के लिये शाक्त हिंसक के रांधा (पकाया) जो खाता है, सो जीवित दशा में श्वान की विष्ठा तुल्य अशुद्ध रहता है ॥ २ ॥ आरा (साथ खेती), नारा (साथ जलाशय) के सम्बन्ध से भी जो रल (मिल) कर मल (अशुद्ध) खाते हैं ॥ ३ ॥ हित (प्रेमी) न अघाय (पूरा न होय) ॥ ४ ॥ कन्या के विवाह वा वल (किसी काम में सहायता) के लिये ॥ ५ ॥ सलिल भक्त (जल तुल्य अधोगति वाला मद्यपादि) ॥ ६ ॥

सौ वरसां भक्ति करैं, इक दिन पूजै आन।
सो अपराधी आतमा, पर चौरासी खान ॥ ७ ॥

राम नाम को छाड़ि के, करै आन को जाप।
ताके मुँह में दीजिये, नौसादर के भाप ॥ ८ ॥

राम नाम को छाड़ि के, करै और की आस।
कहैं कबिर ता दास का, होय नरक में बास ॥ ६ ॥

कामि तरैं क्रोधी तरैं, लोभी तरै अनन्त।
आन उपासी कृतघ्नी, तरै न गुरु कहन्त ॥ १० ॥

देवि देव मानै सबै, अलख न मानै कोय।
जा अलक्ख का सब किया, तासे बेमुख होय ॥ ११ ॥

सौ वर्ष तक सर्वात्मा हरि की भक्ति करके अन्त में एक दिन भी अन्य की पूजा में मन लगावे तो वह अपराधी जीव भेद वासना वश चौरासी की खानि में पड़ता है ॥ ७ ॥ सर्वात्मा राम के नाम को त्याग कर आन (अन्य) को जपने वाले के मुख में नौसादर के भाप (विष्ठा) दीजिये, अर्थात् राम नाम रहित मुख को अशुद्ध समझिये ॥ ८ ॥ क्योंकि राम नामादि बिना नरक होता है ॥ ६ । कामी आदि भी राम भक्ति आदि से तरते हैं, परन्तु आन उपासी (अनात्म प्रेमी) राम भक्ति रहित कृतघ्न (ईश्वरादि के उपकार को नही मानने वाले नास्तिक) नहीं तरते हैं, इस प्रकार गुरु कहते हैं ॥ १० । देवी देवादि सब को मानते हैं, परन्तु कोई अलख (निराकार-अदृश्य) हरि राम को नहीं मानते हैं, इससे जिस अलख का सब किया हुआ है उससे विमुख हो जाते हैं ॥ ११ ॥

इति आनदेव का अंग ॥

———

अथ प्रकृति गुण का अंग ॥ ११ ॥

पहिले सेर पचीस का, सन्तो करो अहार।
गुरु शब्दे लागे रहो, दुख न होय लगार।। १।

सुषमन डिब्बी पोत करि, दीन्ही आगि चढ़ाय।
सेर पांच को रांधि करि, सन्त होय सो खाय।। २॥

सेर पांच को खाय करि, सेर तीन को खाय।
सेर तीन नहिं खा सकै, सेर दूइ को खाय।। ३॥

सेर दूइ को खाय करि, पाया अगम अलेख।
सतगुरु शब्दे यों कहा, जाके रूप न रेख॥ ४।

दुख महल को ढाहने, सुख महले रहु जाय।
अभि अन्तर है उनमुनी, तामें रहो समाय॥ ५॥

काजल तजै न स्यामता, मुक्ता तजै न सेत।
दुर्जन तजै न कुटिलता, सज्जन तजै न हेत। ६॥

पचीस (पांच भूत की प्रकृति) ॥ १। डिब्बी (पात्र) को पोत (शुद्ध) करके, ज्ञानाग्नि पर चढाया, फिर अविद्यादि पांचों को खाया ॥ २॥ त्रिगुण को खाय, न हो सके तो किसी प्रकार द्वन्द्व को मिटावे ॥ ३॥ कर्मेन्द्रियों से अगम्य ज्ञानेन्द्रियों का अविषय को पाया ॥ ४॥ दुःख महल देहादि को ढाहने के लिये सुख महल में जाकर रहो, उनमुनि (समाधि अवस्था) में स्थिर होओ ॥ ५॥ सेत (श्वेतता), हेत (प्रेम) ॥ ६॥

दुर्जन की करुणा बुरी, भल सज्जन का त्रास।
सूरज जब गरमी करै, तब बरसन की आस॥ ७॥

कछु कहि नीच न छेड़िये, भलो न वाको संग।
पत्थर डारै कीच में, उछलि बिगारै अंग॥ ८॥

चन्दा सूरज चलत न दीसै. वढ़त न दीसै वेल।
हरिजन हरि भजता ना दीसै, ये कुदरत का खेल ॥ ६ ॥

जो जाको गुन जानता, सो ताको गुन लेत।
कोयल आम ही खात है, काग लिंबोरी लेत ॥ १० ॥

इश्क खुन्नस खांसि जो, औ पीवैं मद पान।
ये छुपाये ना छुपे, परगट होय निदान ॥ ११ ॥

करुणा (दया), त्रास (भय), जैसे सूर्य की गरमी से वृष्टि होती है, तैसे सज्जन से डरने से सुख होता है ॥ ७ ॥ कुछ कह कर नीच को छेडना (वोलना) रूप संग भी नहीं करना चाहिये ॥ ८ ॥ वेल (लता) ॥ ६ ॥ लिंबोरी (नीम के फल) ॥ १० ॥ इश्क (प्रेम), खुन्नस (क्रोध), खांसी (खोंखी रोग), मद पान (मदिरा रूप पीने की वस्तु) को पीना, ये सब छिपाने से नहीं छिपते हैं, निदान (अवश्य) प्रकट होते हैं ॥ ११ ॥

इति प्रकृति गुण का अंग ॥

अथ क्रोध का अंग ॥ १२ ॥

क्रोध अगनि घर घर वढ़ी, जलै सकल संसार।
दीन लीन निज भक्त जो, तिन के निकट उवार ॥ १ ॥

कोटि करम लागै रहै, एक क्रोध की लार।
किया कराया सव गया, जब आया हंकार ॥ २ ॥

जगत माहिं धोखा घना, अहं क्रोध अरु काल।
पौरी पहुँचा मारिये, ऐसा यम का जाल ॥ ३ ॥

दसौं दिशा से क्रोध की, उठी अपरवल आगि।
सीतल संगति साधु की, तहां उवरिये भागि ॥ ४ ॥

यह जग कोठी काठ की, चहुँ दिश लागि आग ।
भीतर रहे सो जलि मुये, साधू उवरे भाग ॥ ५ ॥

गार अंगारा क्रोध झल, निन्दा धूँवाँ होय ।
इन तीनों को परिहरे, साधु कहावें सोय ॥ ६ ॥

दीन (पापादि से भयभीत) तथा आत्म लीन जो नित्य भक्त हैं, ॥ १ ॥ एक क्रोध के लार (साथ पास) में करोड़ों दुष्ट कर्म लगे रहते हैं, और क्रोधावेश में अहंकार के आने पर सब सद्विचारादि नष्ट होते हैं ॥ २ ॥ अहंकार, क्रोध और काल (कल्पना-मृत्यु) रूप बना (बहुत) धोखा संसार में है, ऐसा यम का जाल रूप ये जब ही पौरी (द्वार सीढी) पर पहुँचें, तभी इन्हे मारना चाहिये ॥ ३ ॥ गार (गाली) अंगार है, क्रोध झल (लपट धाह) है, निन्दा धूँवा है ॥ ६ ॥

कुबुधि कमानी चढ़ि रही, कुटिल वचन का तीर ।
भरि भरि मारै कान में, सालै सकल शरीर ॥ ७ ॥

कुटिल वचन सबसे बुरा, जारि करै तन छार ।
साधु वचन जल रूप है, बरषै अमृत धार ॥ ८ ॥

साधुता बिना क्रोधी के कुबुद्धि रूप धनुष पर कुटिल वचन रूप तीर चढ रही है, जिसे भर २ कर कान में मारता है, और सम्पूर्ण शरीर को पीडित करता है ॥ ७ ॥ ऐसा कुटिल वचन सब से बुरा है, क्योंकि वह देह को जला कर छार (राख) करता है, और क्रोध रहित साधु का सत्य प्रिय हित वचन जल रूप है, सो आनन्दामृत की धारा की वर्षा करता है ॥ ८ ॥

इति क्रोध का अंग ॥

अथ लोभ का अंग ॥ १३ ॥

जब मन लागा लोभ सो, गया विषय में [1]भोय।
कहँ कबीर विचारि के, [2]केहि प्रकार धन होय ॥ १ ॥
योगी जंगम सेवड़ा, ज्ञानी गुनी अपार।
षट दरशन से क्या बने, एक लोभ की लार ॥ २ ॥
कबीरु आँधी खोपड़ी, कबहूं धापे नाहिं।
तीन लोक की सम्पदा, कब आवै घर माहिं ॥ ३ ॥

जब मन लोभ से सम्बन्ध करता है, तब विषयों में भूल जाता (आसक्त होता) है और चिन्ता लगी रहती है कि धन किस प्रकार मिले ॥ १ ॥ जब एक लोभ पास में आ जाता है, तब योगी आदि छौ दर्शन से भी कुछ नहीं बन पड़ता है, वह सब को परास्त करता है ॥ २ ॥ क्योंकि लोभ के आने पर यह आँधी खोपरी (माथा) कभी धापती (तृप्त होती) नहीं है, दिमाग में शान्ति नहीं आती है, दिमाग में यह बात बनी रहती है, कि तीनों लोक की सम्पत्ति कब मेरे ही घर में आवेगी ॥ ३ ॥

कबीर तृष्णा पापिनी, तासे प्रीति न जोर।
पैंड पैंड पाछे परै, लागै मोटी खोर ॥ ४ ॥
तृष्णा सींची ना बुझै, दिन दिन बढ़ती जाय।
जावासा का रूख ज्यों, घन मेह कुम्हिलाय ॥ ५ ॥

पैंड़ २ (सब मार्ग) में तृष्णा पीछे लगती है, जिससे बड़ा दोष लगता है ॥ ४ ॥ विषय भोग से तृष्णा बढ़ती है, जवासा का वृक्ष तुल्य सदुपदेश रूप निरन्तर मेघ से नष्ट होती है ॥ ५ ॥

इति लोभ का अंग ॥

---

१ मोय। २ कस भक्ति धन होय। पा० ॥

अथ मोह का अंग ॥ १४ ॥

मोह फंद सब फन्दिया, कोइ न सकै निवार।
कोइ साधु जन पारखी, विरला तत्त्व विचार ॥ १ ॥

मोह मगन संसार है, कन्या रही कुमारि।
काहु सुरति जो ना करी, ताते फिरि औतारि ।२॥

मोह सलिल की धार में, वहि गय गहिर गँभीर।
सुच्छम मछली सुरति है, चढ़ती उलटी नीर ॥ ३ ॥

जब घट मोह समाइया, सबे भया अँधियार।
निर्मम ज्ञान विचार के, साधू उतरे पार॥ ४ ॥

जहँ लग सब संसार है, मिरग सबन को मोह।
सुर नर नाग पताल अरु, ऋषि मुनिवर सब जोह ॥ ५ ।

मोह फांस में फंसा हुआ कोई मोह को नहीं हटा सकता, किन्तु विवेकी कोई विरला साधुजन तत्त्व विचार से हटाता है ॥ १ ॥ कन्या (बुद्धि) कुमारी (आत्मानुभव रहित) रह गई। कोई इसका सुरत (ध्यान) नहीं किया, इससे फिर जन्मना हुआ ॥ २ ॥ गभीर (बड़े लोग) मोह की धारा में पड़ कर गहिरे में बह गये, मछली तुल्य सूक्ष्म सुरति (बुद्धि) उलटी जल (आत्मा) में चढती है ॥ ३ ॥ निर्मम मोह ममता रहित) ज्ञान विचारि के (ज्ञान के लिये विचार करके) ॥ ४ ॥ सबको मोह मृग है। या सब के मनरूप मृग को मोह है, सो सुरादि सब में जोहो (विचार कर समझो ॥ ५ ॥

अष्ट सिद्धि नव निद्धि लौ, तुम सो रहै निनार।
मिरगहि बांधि विडारहू, कहैं कबीर विचार ॥ ६ ॥

प्रथम फँदे सब देवता, विलसैं स्वर्ग निवास।
मोह मगन सुख पाइया, मृत्यु लोक की आस ॥ ७ ॥

दूजे ऋषि मुनिवर फंसे, तासो रुचि उपजाय।
स्वर्ग लोक सुख मानहीं, धरनि परत हैं आय ॥ ८ ॥

सुर नर ऋषि मुनि सब फँसे, मृग तृष्णा जग मोह।
मोह रूप संसार है, गिरे मोह निधि जोह ।· ९ ॥

कुरुक्षेत्र सब मेदिनी, खेती करै किसान।
मोह मिरग सब चरि गया, आस न रहि खलिहान ॥१०॥

अष्ट सिद्धि नव निद्धि तक मोह का स्थान है परन्तु तुम से वह न्यारा रह सकता है कि यदि मोह मन रूप मृग को विवेकादि से बांध कर बीग दो (इच्छा रहित होओ) ॥ ६ ॥ क्योंकि स्वर्ग में बस कर आनन्द करने वाले देव भी इच्छा से ही प्रथम फंसे हैं, और सुख पाकर अभी मोह में मगन है, फिर मर्त्य लोक की आशा किये हैं ॥ ७ ॥ तासों (उन देव सो), रुचि (इच्छा संग) उत्पन्न करके स्वर्ग में सुख मानते हैं, परन्तु स्वर्ग में जाकर फिर भूमि में आकर गिरते हैं ॥ ८ ॥ मोह से मृगतृष्णा तुल्य जगत में फंसे, मोह समुद्र में गिरे को देखो ॥ ९ ॥ कुरुक्षेत्र तुल्य सब भूमि पवित्र है, वहां कर्मी कर्मरूप खेती करते हैं, परन्तु मोह मृग सबको नष्ट करता है, खलिहान (मोक्ष क्षेत्र) में आने की आशा नहीं रह जाती ॥ १० ॥

काहु जुगुति नहि जानिया, किहि विधि बचै सुखेत।
नहि वन्दगि नहिं दीनता, नहि साधू संग हेत ।११॥

अष्ट सिद्धि नव निद्धि लौ, सब हि मोह की खान।
त्याग मोह का वासना, कहैं कबीर सुजान ॥ १२ ॥

अपना तो कोई नहीं, हम काहूं के नाहिं।
पार पहूंची नाव जब, मिलि सब बिछुडे जाहिं ॥ १३ ॥

सुखेत किस प्रकार बचै, इस युक्ति को सत्संगादि विना किसी ने नहीं जाना, क्योंकि किसी को न स्तुति बन्दना है, न दीनता है, न साधु के साथ हेत (प्रेम) है ॥ ११ ॥ आठ सिद्धि नव निद्धि तक सब पदार्थ मोह की खानि हैं, किन्तु सब वासना का त्याग को मोह का त्याग रूप सुजान कहते हैं ॥ १२ ।। और वासना का त्याग के लिये समझना चाहिये कि, कोई वस्तु व्यक्ति अपना नहीं है, न हम किसी के हैं, जैसे नाव पर सब मिलते हैं, परन्तु नाव के पार पहुँचने पर सब विछुड़ते हैं, तैसे अन्त में सब वियुक्त होते हैं ॥ १३ ॥

अपना तो कोई नहीं, देखा ठोकि वजाय।
अपना अपना क्या करै, मोह भरम लिपटाय ॥ १४ ।

मोह नदी विकराल है, कोइ न उतरै पार।
सतगुरु केवट साथ ले, हंस होय यम न्यार ॥ १५ ॥

एक मोह के कारने, भरत धरी दो देह।
ते नर कैसे छूटि हैं, जिनके वहुत सनेह ॥ १६ ॥

ठोक बजाय (परीक्षा कर) के देखा गया है कि अपना कोई नहीं है, तो भी मोह ममता में लिपट (फंस) कर अपना २ क्या करते हो ॥ १४ ॥ विकराल (कठिन भयावह), सद्गुरु रूप नाविक को साथ में लेने पर जीव मोह नदी से पार होकर यम (मृत्यु), से न्यारा (रहित), होता है ॥ १५ ॥ अन्यथा एक मृग का मोह (आसक्ति), से भरत राजा दो देह को फिर धारण किये। वे मनुष्य देह से कैसे छूटेगें कि जिनको बहुत में सनेह है ॥ १६ ॥

इति मोह का अंग ॥

———

अथ दुख का अंग ॥ १५ ॥

जा दिन ते जिव जनमिया, कबहु न पाया सूख।
डाले डाले मैं फिरा, पाते पाते दूख ॥ १ ॥
कबीर सुख को जाय था, बिच में मिलि गौ दूख।
सुख जाहू घर आपने, मैं अरु मेरा दूख ॥ २ ॥
सुखिया ढूंढ़त मैं फिरूं, सुखिया मिलै न कोय।
जाके आगे दुख कहूं, पहिले ऊठै रोय ॥ ३ ॥
जाके आगे इक कहूं, सो कहये इकवीस।
एक एकते दाझिया, कहँ ते काढूं बीस ॥ ४ ॥

जनमिया (देही हुआ), पाते २ (आगे २) दुःख रहता है ॥ १ ॥ सुख की वासना से कर्मादि किया, देही बना, परन्तु वहाँ दुःख मिला, अब दुःख के भोग काल में सुख को स्वस्वरूप ही में रहना ठीक है, और दुःख भोगने बिना छुटकारा नहीं है ॥ २ ॥ इसी से खोजने पर भी देही कोई सुखिया नहीं मिलता है। जिसके आगे दुख की बात कही जाती है, वह दुःख के मारे पहले ही रो उठता है ॥ ३ ॥ और जिसके आगे मैं एक दैहिक दुःख कहता हूँ, वह न्याय दर्शन के अनुसार, मन सहित छौ इन्द्रिय, छवों से जन्य छौ ज्ञान, छवों का छौ विषय, ये अठारह और विषय जन्य सुखदुःख तथा शरीर को मिला कर इक्कीस दुःख कहता है, तथा इक्कीस नरक कहता है, तहां एक २ से सब जल रहा है, बीस को कैसे निकाला जाय ॥ ४ ॥

विष का खेत जु खेडिया, विष का बोया झाड़।
फल लागे अंगार से, दुखिया के गल हाड़ ॥ ५ ॥
झल बांये झल दाहिने, झल ही में व्यवहार।
आगे पीछे झल हि है, राखै सिरजनहार ॥ ६ ॥

मैं रोऊं संसार कूं, मुझे न रोवै कोय।
मुझ को रोवै सो जना, नाम सनेही होय ॥ ७ ॥

कबीर दरिया परजला, दाझै जल थल झोल।
वस नाहीं गोपाल सूं, विनसै रतन अमोल ॥ ८ ॥

विष का खेत (दुःख का स्थान), खेडिया (जोता), और दुःख का ही झाड (वृक्ष) वोया (लगाया) जिसमें अंगार तुल्य फल लगे कि जिससे, दुखिया के हाड तक गल गया ॥ ५ ॥ झल (ताप) शुभ अशुभ सव लोक देहादि में है, क्योंकि संसार के सव व्यवहार ही झल में है, आगे पीछे सर्वत्र झल है, तो भी सिरजनहार इस में रक्षा करता है ॥ ६ ॥ मैं गुरु सव की चिन्ता करता हूँ, परन्तु मेरी चिन्ता कोई नहीं करता, नाम सनेही भक्त करता है ॥ ७ ॥ संसार में दुःख तापाग्नि लगी कि जिससे जल थल के झोल (तुच्छ प्राणी) तो दग्ध हो गये, परन्तु इस में अमोल रतन रूप जो सन्त भक्तादि हैं, सो भी विनशते (दुःख पाते हैं, तहाँ गोपाल को कुछ वश नहीं है, संसार ईश्वराधीन है। ८ ॥

सख समून्दा वीछुरा, लोग कहैं वाजन्त।
प्रीतम आपन कारने, घर घर दाह दयन्त ॥ ९ ॥

करनि विचारी क्या करैं, हरि नहिं होय सहाय।
जिहि जिहि डाली पग धरूं, सो सो नमि नमि जाय ॥ १० ॥

सात द्वीप नव खंड में, तीन लोक ब्रह्माण्ड।
कहैं कविर सव को लगै, देह धरे का दंड ॥ ११ ॥

देह धरे को दंड है, सव काहू को होय।
ज्ञानी भुक्तै ज्ञान करि, अज्ञानी सव रोय ॥ १२ ॥

शंख (संसार समुद्र के निधि) रूप ज्ञानी वस्तुतः संसार समुद्र से बिछुरे (वियुक्त) है, जिन को लोग वाजन्त (वाजा वक्ता-देही) कहते

हैं, परन्तु अपने प्रियतमात्मा को समझाने के लिये दाह देते हैं (कष्ट सहते सहाते हैं ॥ ९ ॥ क्योंकि बेचारी केवल करनी (कर्म) कर सकती है, कि जब तक गुरु आदि रूप हरि सहाय नही करें, हरि की सहायता बिना जहाँ २ पग धरो, तहां कठिनाई है॥ १० ॥ इसीसे सात द्वीपादि में सर्वत्र देह धरने का दंड सबको लगता है ॥ ११ ॥ यद्यपि देह धरने का दंड (सुख दुख भोग) सबको होता है, परन्तु ज्ञानी विवेक करके देहादि के धर्म मान कर व्याकुलता बिना भोगता है और अज्ञानी सब रोकर भोगता है॥ १२ ॥

भूप दुखी अवधूत दुखि, दुखी रंक विपरीत।
कहैं कबिर ये सब दुखी, सुखी सन्त मनजीत॥ १३ ॥

वासर सुख नहिं रैन सुख, ना सुख धूप न छांह।
कै सुख सरनै राम के, कै सुख सन्तो मांह॥ १४ ॥

स्वर्ग मृत्यु पाताल में, पूर तीन सुख नाहिं।
सुख साहिब के भजन में, अरु सन्तन के माहिं॥ १५ ॥

सम्पति देखि न हरषिये, विपति देखि मति रोय।
सम्पति है तहँ विपति है, कर्ता करै सो होय॥ १६ ॥

मन को वश करने बिना, भूपादि और रंक (दरिद्र) तथा उससे विपरीत (धनी) ये सब दुःखी हैं, मन को जीतने वाले सन्त सुखी हैं ॥ १३ ॥ दिन रात्रि आदि में कहीं सुख नहीं है, किन्तु राम के शरण में वा सन्तों में सुख है, क्योंकि वहाँ देहाभिमान नहीं है ॥ १४ ॥ स्वर्ग मर्त्य पाताल रूप तीन पुर में सुख नहीं है, साहब के भजन और सन्तों में सुख है॥ १५ ॥ इसलिये सम्पत्ति देख कर हर्ष नहीं करो, न विपत्ति देख कर रोओ, किन्तु सदा साहब का भजन और सत्संग करो, क्योंकि जहां सम्पत्ति है, तहां भी एक दिन विपत्ति है, इस में तो कर्ता जो करता है, सोई होता है, सम्पत्ति या विपत्ति एक रस नहीं रहती है॥ १६ ॥

सम्पति तो हरि मिलन है, विपति जु राम वियोग ।
सम्पति विपती राम कहु, आन कहै सब लोग ॥ १७ ॥

लछमि कहै मैं नित नवी, किसकि न पूरी आस ।
किते सिंहासन चढि चले, कितने गये निरास ॥ १८ ॥

दुख नहि था संसार में, नहि था सोग वियोग ।
सुख ही में दुख लादिया, बोली बोले लोग ॥ १६ ॥

सत्य सम्पत्ति हरि मिलन भजन है, और राम से वियोग ही विपत्ति है, इसलिये लौकिक सम्पत्ति विपत्ति दोनों काल में राम भजो, अन्य वस्तु को तो सब लोग कहते भजते हैं ॥ १७ ॥ लक्ष्मी देवी कहती हैं कि, मैं सदा नवी रहती हूं, और किस भक्त की आशा मैंने नहिं पूरी की है, अर्थात् सबकी की है, परन्तु भक्ति विना कर्मानुसार कितने सिंहासन पर चढ़ कर चले, और कितने निराश (हताश) दुःखी होकर चले, और पुर्ण आशा वाले भक्त तो गमनागमन रहित मुक्त हुए ॥ १८ ॥ क्यों कि संसार में सत्य दुःखादि नहीं था न हैं, किन्तु अज्ञान से सुख स्वरूप में ही दुःख लादा है, और दुःख की वोली भी लोग बोलते हैं, ज्ञानी भक्त इन सबसे रहित होते हैं, ॥ १९ ॥

इति दुख का अंग ॥

अथ कर्म का अंग ॥ १६ ॥

करम कचोई आतमा, निज कन खाया सोधि ।
अंकुर विना न ऊगसी भावै ज्यों परमोधि ॥ १ ॥

मोह कुटी में जलि मुआ, करम किवड़ी बारि ।
कोइ एक हरि जन ऊबरा, भागा राम पुकारि ॥ २ ॥

काया खेत किसान मन, पाप पुन्य दो बीव।
बोया लूनै आपना, काया कसके जीव ॥ ३ ॥

कचोई (कच्चा-निषिद्ध-काम्य) कर्म करने वाला जीवात्मा (मनुष्य) मानो घुन के समान अपने कन (ज्ञानांकुर की बीज शक्ति) को सोधि (खोज २) कर खा गया है, इससे उससे अंकुर (ज्ञानशक्ति) विना ज्ञानवृक्ष नहीं ऊगेगा, चाहे जैसे समझा जाय ॥ १ ॥ इससे मोहरूप कुटी में कर्म रूप फाटक द्वार पर लगाकर तापों से वह जल मुआ, कोई एक हरिजन ऊवरा जो राम पुकार कर उससे भागा ॥ २ ॥ मानव देह खेत है, मन किसान है, पाप पुण्य (धर्माधर्म) बीव (बीज दो) है, जीव काया को कस कर (कष्ट देकर) भी अपना बोया काटता (पाता-फल भोगता) हैं ॥ ३ ॥

काला मुँह करु कर्म का, आदर लावूं आग।
लोभ वडाई छाड़ि के, राचो गुरु के राग ॥ ४ ॥

जीव करम में जलि गया, कहै कहाँ तें राम।
कंचन जला कथीर में, जाको ठौर न ठाम ॥ ५ ॥

भरम करम की जेवरी, वल वांधा संसार।
वे क्यों छूटे वापुरे, जो वांधे करतार ॥ ६ ॥

कवीर सजडै ही जड़ा, झूठा मोह अपार।
वहुत लुहारे पचि मुये, उझटत नही लगार ॥ ७ ॥

उस कच्चा कर्म का मुँह काला करो (उसे त्यागो) और आदर में आग लगाओ (उसकी इच्छा नहीं करो), लोभ और वडाई को भी त्याग कर, गुरु के राग (भक्ति) में राचो (लगो) ॥ ४ ॥ क्यों कि कच्चा कर्म से जीव जल गया (मलिन मन हो गया) वह राम भी कहाँ से कहेगा, उसका कञ्चन (विचार) मानो कथीर (कुकर्म) में जर गया, इससे अब

उसको कहीं ठौर (स्थिर) ठाम स्थान नहीं है ॥ ५ ॥ भ्रम से सिद्ध कुकर्म की रस्सी के बल से संसार बंधा है, फिर वे बावरे कैसे छूट सकते हैं, कि जिन्हे ईश्वर ही बांधा है ॥ ६ ॥ अपार झूठा मोह से जो सजड़ै (अच्छी तरह-मूल सहित) जड़ा (बंधा) है, उसके लिये बहुत लुहार (गुरु) भी हैरान हुये, परन्तु वह लगा हुवा बन्धन उझटता (खुलता) नहीं हैं ॥ ७ ॥

कहां करूं मैं जलि गया, अन्तर लागी आग।
राम नाम काठी करी, गया कबीरा भाग ॥ ८ ॥

कबीर चन्दन परजला, तीतर बैठा माहिं।
हम तो दाझत पांख बिनु, तुम दाझत हो काहि ॥ ९ ॥

कबीर कमाई आपनी, कबहु न निष्फल जाय।
सात सिन्धु आड़ा पड़े, मिले अगाड़ी आय ॥ १० ॥

करै बुराई सुख चहै, कैसे पावै कोय।
रोपै पेंड़ बबूल का, आम कहां ते होय ॥ ११ ॥

कहाँ (क्या) किया जाय, अन्दर में अग्नि लगने से मैं (ममता-वाला) जल गया, परन्तु राम नाम की काठी (उड़न खटोला बनाकर जो जीव भाग गया, सो नहीं जला ॥ ८ ॥ चन्दन (वासना सहित जीव) परजला (खूब जला) उसके बीच में तीतर (तैत्तिरीयोपनिषत् संबन्धी ब्रह्मानन्द के विवेकी) भी बैठा था, उसे भी दुःखी देखकर चन्दन बोला कि, मैं तो विवेकादि पांख बिना जलता हूँ, तुम क्यों जलते हो ॥ ९ ॥ विवेकी कहता है कि, प्रारब्ध रूपता को प्राप्त अपनी कमाई कभी निष्फल नहीं जाती है, सात समुद्र के व्यवधान होने पर भी आगे आकर मिलती है ॥ १० ॥ इससे बुराई करके सुख चाहे तो कोई कैसे पा सकता है ॥ ११ ॥

पूरब का रबि पश्चिमे, गए जो उगै प्रभात।
लिखा मिटै नहिं करम का, लिखा जु हरि के हाथ ॥ १२ ॥

बुंद पडी जा पलक में, उस दिन लिखिया लेख।
मासा घटै न तिल वढै, जो शिर कूट अनेक ॥ १३ ॥

जहँ यह जियरा पगु धरै, वखत वरावर साथ।
जो है लिखा नसीब में, चलै न अविचल वात ॥ १४ ॥

जाको जित निर्मान किय, ताको तितना होय।
मासा घटै न तिल बढै, जो सिर कूटौ कोय ॥ १५ ॥

परारब्ध पहिले वना, पीछे बना शरीर।
कबीर अचंभा है यही, मन नहिं बांधे धीर ॥ १६ ॥

गर (अगर-चाहे) प्रातः काल में सूर्य पश्चिम भी उगे तो ईश्वर के नियमानुसार लिखित (निश्चित) कर्म नहीं मिटता ॥ १२ ॥ जिस पल (क्षण) में गर्भाशय में वीर्य पहुँचा, उसी समय कर्मभोग का निश्चय हो गया, सो कुछ भी घट वढ नहीं सकता चाहे कुछ भी किया जाय ॥ १३ ॥ वखत (समय प्रारब्ध), वरावर (सदा), नसीव (भाग्य) ॥ १४ ॥ जित (जितना) निर्मान (निश्चय-सिद्ध) किया गया है ॥ १५ ॥ क्योंकि प्रारब्ध का प्रथम निश्चय होने पर पीछे शरीर उसीसे सिद्ध हुआ है, परन्तु यह आश्चर्य है कि इस वात को जानने पर भी मन धैर्य नहीं रखता है ॥ १६ ॥

कवीर रेखा कर्म की, कवहु न मिटि हैं राम।
मेटनहार समर्थ है, समझि किया है काम ॥ १७ ॥

कबीर घट में राम है, रजक मीत जिव साथ।
कहा जु चारा मनुष का, कलम धनी के हाथ ॥ १८ ॥

वखत कहो या करम कहु, नसिब कहो निरधार।
सहस नाम है कर्म के, मन ही सिरजनहार ॥ १९ ॥

वाहिर सुख दुख देन को, हुकुम करै मन माय।
जव ऊठे मन वखत को, वहिर रूप धरि आय ॥ २० ॥

वखत वले भवजल तरै, निर्वल भया विकार।
यह सब किया नसीव का, रह निश्चय निरधार ॥ २१ ॥

कर्म की रेख को कभी राम भी नहीं मेटेगें, क्योंकि मेटने वाला समर्थ हैं सही, परन्तु प्रथम ही समझ कर काम किया है कि जो मेटना न हो ॥ १७ ॥ रजक (जीविका), मौत (मृत्यु) देही के साथ है, चारा (वश-शक्ति) ॥ १८ ॥ वखत, कर्म, नसीव, निरधार इत्यादि बहुत कर्म के नाम हैं, और मन में सिरजनहार है ॥ १९ ॥ बाहर के सुखदुःख देने के लिये वह मन में हुकुम (प्रेरणा) करता है, और जब मन प्रेरणा के अनुसार ऊठता है, तब बाहर में वखत (समय) का रूप धरके आता है ॥ २० ॥ फिर वखत के बल से जीव संसार को तरता है, और निर्वल वखत से जन्मादि कामादि विकार भया है, और सब नसीव का किया है, इस निश्चय को निरधार कहते हैं। अर्थात् यह निर्णित बात है ॥ २१ ॥

करम अपना परखि ले, मन नहि कीजै रीस।
हरि लिखिया सोइ पाइये, पाथर फोरै सीस ॥ २२ ॥

कीन्हे विना उपाय कछु, देव कवहु नहि देत।
खेत बीज वोवै नहीं, तो क्यों जामैं खेत ॥ २३ ॥

दुख लेने जावै नहीं, आवा आचावूच।
सुख का पहरा होयगा, दुःख करेगा कूच ॥ २४ ॥

होनहार सोइ होत हैं, विसर जात सब सुद्ध।
जैसी लिखी नसीव में, तैसी उकलत वुद्ध ॥ २५ ॥

रे मन भाग्य हि भूल मत, जो आया मन भाग।
सो तेरा टलता नहीं, निश्चय संशय त्याग ॥ २६ ॥

अपना कर्म का फल दुःखादि परख (समझ) लो, फिर मन में रीस (क्रोध) नहीं करो ॥ २२ ॥ देव (ईश्वर) भी कभी दुःख अपने किये कर्म विना नहीं देता है ॥ २३ ॥ यद्यपि कोई साक्षात् दुःख लेने नही जाता है, तथापि पूर्व कर्माधीन आचाबूच (अचानक में पूर्ण) दुःख आता है, फिर सुख का समय आने पर वह आप ही कूच (यात्रा) करेगा ॥ २४ ॥ होने वाली वात ही होती है, और सब सुद्ध (होस) भूल जाता है, और नसीव के अनुसार बुद्धि भी उकलती (उत्पन्न-प्रकट होती) है ॥ २५ ॥ इसलिये रे मन भाग्य को नहीं भूलो, और जो तेरा भाग्य आया है, सो तेरा भाग्य पलटता नहीं है, ऐसा निश्चय करके संशय को त्यागो ॥ २६ ॥

मन की संका मेटि कर, रहु निसंक निरधार।
निश्चय होय सो होयगा, जो करसी करतार ॥ २७ ॥

दुनी कहै मैं दो रंगी, पल में पलटि जु जाउँ।
सुख में जो सूता रहै, वाको दुखी वनाउँ ॥ २८ ॥

तेरा वैरी कोइ नहीं, तेरा वैरी फैल।
अपने फैल मिटाय ले, गली गली कर सैल ॥ २९ ॥

जा अकास पाताल जा, फोरि जाहु ब्रह्मण्ड।
कहँ कबिर मिटि हैं नहीं, देह धरे का दण्ड ॥ ३० ॥

लिखा मिटै नहिं करम का, गुरु कर भज हरिनाम।
सीधे मारग नित चलै, दया धरम विसराम ॥ ३१ ॥

शंका रहित निरधार (निश्चययुक्त) रहो कि जो कर्ता का निश्चय होगा, सो उसका किया ही होगा ॥ २७ ॥ यद्यपि दुनिया कहती है कि

मैं दुरंगी हुँ, इससे पल में पलट जाऊं, सुख से सोये को दुखी बनाऊं परन्तु वस्तुतः तेरा वैरी कोई नहीं है, किन्तु मन का फैल (विस्तार) तेरा वैरी है, उसे मिटा कर सर्वत्र आनन्द करो ॥ २८-२९ ॥ परन्तु चाहे कहीं जाओ तो भी देह धरे का दंड (भोग) नहीं छूट सकता है ॥ ३० ॥ प्रारब्ध कर्म का भोग तो अवश्य होता है, परन्तु भावी कल्याण के लिये गुरु का शरण लो, हरि का भजन करो, सीधा मार्ग से सदा चलो; दया धर्म का धारण करो तो विश्राम मिलेगा ॥ ३१ ॥

इति कर्म का अंग ॥

अथ स्वाद का अंग ॥ १७ ॥

खट्टा मीठा चरपरा, जिह्वा सब रस लेय ।
चोरों कुतिया मिलि गई, पहरा किसका देय ॥ १ ॥

खट्टा मीठा देखि के, रसना मेलै नीर ।
जब लग मन पाको नहीं, काचो निपट कथीर ॥ २ ॥

जीभ स्वाद के कूप में, जहाँ हलाहल काम ।
अंग अविद्या ऊपजे, जाय हिये ते नाम[1] ॥ ३ ॥

कर अहार मन भावता, जिह्वा केरे स्वाद ।
नाक तलक पूरन भरै, क्यों कहिये वे साध ॥ ४ ॥

मांखी गुड़ में गड़ि रही, पंख रहा लपटाय ।
तारी पीटै सिर धुनें, लालच बुरी बलाय ॥ ५ ॥

खट्टा मीठा चटकदारादि सब राजस तामस रसको भी जिह्वा लेती है, तो वह कुतिया विषय कामादि चोरों से मिल गई, फिर सात्त्विक भोजन-द्वारा आरोग्य बुद्धि आदि को बढ़ा कर किसकी रक्षा करे ॥ १ ॥ मन की

---

१ राम ।

दृढ़ता विना खट्टा आदि को देखने पर वह रसना पर जल देता है, इससे तव तक अत्यन्त चञ्चल कच्चा मन रहता है ॥ २ ॥ और जिह्वा स्वाद के कूप में गिरती है, जहाँ हलाहल (विषय विष) का काम (इच्छा) उत्पन्न होता है कि जिससे अंग (देह) में पञ्चपर्वा अविद्या उत्पन्न होती है, और हृदय से भक्ति जाती है ॥ ३ ॥ जो जिह्वा के स्वाद बस मन भावता आहार करता है, नाक तक भरता है, उसे साधु कैसे कहा जाय ॥ ४ ॥ वह गुड की माखी तुल्य फिर पश्चात्ताप करता है, लोभ बुरी वस्तु है ॥ ५ ॥

मूड़ मुड़ाया मुक्ति को, साल्न कूं पछताय।
गोड़ा फूटै योग विनु, लोगन सो सिथलाय ॥ ६ ॥

रूखा सूखा खाय के, ठंढा पानी पीव।
देखि पराई चूपड़ी, मत ललचावे जीव ॥ ७ ॥

आधी औ रूखी भली, सारि सोग संताप।
जो चाहैगा चूपड़ी, वहुत करेगा पाप ॥ ८ ॥

कवीर सांईं मूझ को, रूखी रोटी देय।
चुपड़ी मांगत मैं डरूं, मत रूखी छिन लेय ॥ ९ ॥

जो मुक्ति के लिये माथ मुडाये हैं, सो भी स्वाद वश साल्न (स्वादु) वस्तु के लिये पश्चात्ताप करते हैं, और उसके लिये द्रव्य चाहिये तो योग के विना ही आसन लगा कर गोड (पैर) को फोडते (कष्ट देते) हैं, और लोगों से शरीर की सिथिलता (कमजोरी स्थिरता) आदि देखाते हैं ॥ ६ ॥ चूपरी (घृत लगी हुई) दूसरों की रोटी को देख कर जीव (मन) में लोभ इच्छा नहीं करो ॥ ७ ॥ सारी (सम्पूर्ण रस व्यञ्जनादि युक्त) में शोक संताप है, यदि प्रारब्धानुसार रूखीसुखी में संतोष नहीं करके चूपरी चाहेगा, तो अन्याय से द्रव्योपार्जनादि बहुत पाप करेगा ॥ ८ ॥

इसलिये ईश्वर मुझे कर्मानुसार रूखी रोटी दे सोई ठीक है, अन्याय से चूपडी मांगने में डर है कि अन्याय जन्य पाप से रूखी भी नष्ट हो जाय ॥ ९ ॥

अन पानी का हार है, स्वाद संग नहिं जाय।
जो चाहै दीदार को, चुपड़ी चरै वलाय ॥ १० ॥

जिह्वा कर्म कछोटरी, तीनो गृह में त्याग।
कवीर पहिले त्याग के, पीछे ले वैराग ॥ ११ ॥

जिह्वा कर्म कछोटरी, जो तीनो वश होय।
राजा परजा यम पुरी, गंजि सकै नहिं कोय ॥ १२ ॥

खाटा मीठा खाय कर, करै इन्द्रिया भोग।
सो कैसे जा पहुँचही, साहवजी के लोक ॥ १३ ॥

अन्न और पानी शरीर का आहार (भोजन) है, इसलिये स्वाद के संग में नहीं जाना चाहिये। जो आत्मदर्शन चाहता है, सो चुपडी रूप बलाय (दुःख) को क्यों चरैगा (खायगा) ॥ १० ॥ जिह्वा के स्वाद और निषिद्ध कर्म, तथा काछ की वशता, इन तीनों को गृह में ही प्रथम त्याग कर वैराग्य का धारण करना चाहिये ॥ ११ ॥ जिह्वा आदि के तीनों के वश रहने पर राजा आदि कोई कष्ट नहीं दे सकता है ॥ १२ ॥ खट्टा आदि खाकर जो इन्द्रिय का भोग करता है, सो साहव के प्रकाश स्वरूप में कैसे जाकर पहुँचेगा ॥ १३ ॥

जूवा चोरी मुखबिरी, व्याज बिरानी नार।
जो चाहै दीदार को, इतनी वस्तु निवार ॥ १४ ॥

मुखबिरी (मुखियापन-मुखदेखी झूठी वात-चुगली), व्याज (हल-सूद) ॥ १४ ॥

इति स्वाद का अंग ॥

अथ विवेक का अंग ॥ १८ ॥

फूटी आंख विवेक की, लखैं न सन्त असन्त।
जाके सँग दश बीस हैं, ताका नाम महन्त ॥ १ ॥

जब लग नहीं विवेक मन, तब लग लगैं न तीर।
भवसागर नामी तरैं, सतगुरु कहैं कबीर ॥ २ ॥

प्रगटे प्रेम विवेक दल, अभय निसान बजाय।
उग्र ज्ञान उर आवते, जग का मोह नशाय ॥ ३ ॥

गुरु पशु नर पशु नारि पशू, वेद पशू संसार।
मानुष ताको जानिये, जाको विमल विचार ॥ ४ ॥

कहैं कबीर पुकारि के, सन्त विवेकी होय।
जामें शब्द विवेक है, छत्र धनी है सोय ॥ ५ ॥

महन्त (महान्), तीर (सदुपदेश), नामी (नामावलम्वी सदुपदेश को धारण करनेवाला) भवसागर से तरता है ॥ १-२ ॥ क्योंकि नामावलम्ब से प्रेम और विवेक का दल (शमदमादि) अभय निसान बजाय कर (सब प्राणी को अभय दान देकर) प्रकट होते हैं, फिर उग्र (तीव्र) ज्ञान के हृदय में आते ही संसार का मोह नष्ट होता है ॥ ३ ॥ इस ज्ञान के विना गुरु आदि के अधीन में मनुष्य पशु तुल्य रहते हैं, क्योंकि वास्तविक मनुष्य विमलात्मा के विचारवाला ही है ॥ ४ ॥ और उस विचार वाले सन्त विवेकी होते हैं, इससे शब्दादि के विवेकवाला ही छत्र धनी (स्वतन्त्र) है ॥ ५ ॥

जींव जन्तु जलहर वसैं, गये विवेक जु भूल।
जल के जलचर यों कहैं, हम उडगन समतूल ॥ ६ ॥

प्रात काल के जाल में, आय गये तिहि माहिं।
जल के जलचर यों कहै, उडगन पति जु नाहि ॥ ७ ॥

हरिजन ऐसा चाहिये, जाके ज्ञान विवेक।
वाहर मिलता सो मिलै, अन्तर सब को एक ॥ ८ ॥

राम नाम सब कोइ कहै, कहने माहिं विवेक।
एक अनेके फिर मिलै, एक समाना एक ॥ ९ ॥

जो जीव जन्तु जलहर (जलधर-जलाशय-तालावादि) में बसते हैं, सो विवेक ज्ञान के भूल जाने से ऐसा कहते हैं कि मैं भी उडगन (तारा) के तुल्य हूँ (अभक्त भी अपने को भक्त तुल्य विवेक विना समझते हैं) ॥६॥ फिर विवेक विनाही प्रातःकाल के व्याध के जाल में (मृत्यु के बस में) आ गये, तव कहने लगे कि उड़गन पति नहीं है, अर्थात् हरि की कृपा विना हमारी यह दशा है ॥ ७ ॥ हरिजन को तो ऐसा होना चाहिये कि जिसको विवेक ज्ञान रहे, वाहर व्यवहार में मिलने योग्य से मिले, सब से नहीं, परन्तु अन्तर में सब से एक शुद्ध भाव रखे ॥ ८ ॥ राम नाम सब कोई कहता है, परन्तु कहने में भी विवेक (भेद) है, एक कहनेवाला अनेक में फिर मिलता है, और एक दूसरा एक में ही समाता है ॥ ९ ॥

इति विवेक का अंग ॥

अथ क्षमा का अंग ॥ १९ ॥

क्षमा बड़न को चाहिये, छोटन को उतपात।
कहा विष्णु को घटि गयो, जो भृगु मारी लात ॥ १ ॥

क्षमा क्रोध को छय करै, जो काहू पै होय।
कहैं कबिर ता दास को, गंजि सकै न कोय ॥ २ ॥

भली भली सब कोई कहै, रही क्षमा ठहराय।
कहैं कबिर शीतल भया, गइ जो अगन बुझाय ॥ ३ ॥

भली भली सब कोइ कहै, भली क्षमा का रूप।
जाके मन हि क्षमा नहीं, सो बूडै भवकूप ॥ ४ ॥

करगस सम दुर्जन वचन, रहै सन्त जन टार।
विजुली पड़े समुद्र में, कहा सकेगी जार ॥ ५ ॥

छोटन के उत्पात होने पर भी बड़ों को क्षमा चाहिये, इससे नफा सिवा हानि नही होती, भृगु के लात मारने से विष्णु भगवान को कुछ घटा नहीं और पूज्य हुए ॥ १ ॥ यदि किसी में क्षमा हो तो वह क्रोध को नष्ट करती है, और उस भक्त को कोई कष्ट भी नहीं दे सकता ॥ २ ॥ फिर क्षमा की स्थिरता से सब भली २ कहते हैं। और क्षमा से शान्त होने पर क्रोध अग्नि बूझ जाती है ॥ ३ ॥ रूप (स्वरूप) ॥ ४ ॥ करगस (आरा) तुल्य दुर्जन का वचन को सन्तजन क्षमा से टारे रहते हैं। यदि विजुली समुद्र में पडेगी तो क्या जला सकेगी, तैसेही सन्त में दुर्जन वचन कुछ कर नहीं सकता है ॥ ५ ॥

कांच कथीर अधीर नर, यतन करत ह्वै भंग।
साधू कञ्चन ताइये, चढै सवाया रंग ॥ ६ ॥

कांचे को क्या ताइये, होत यतन में भंग।
साधू कञ्चन ताइये, चढै सवाया रंग ॥ ७ ॥
वाद विवादै विष घना, बोलै बहुत उपाध।
मौन गहै सबकी सहै, सुमिरै नाम अगाध ॥ ८ ॥

सबल क्षमी निर्गर्व धनी, कोमल विद्यावन्त।
भव में भूषण तीन हैं, औरो सबै अनन्त ॥ ९ ॥

जहाँ दया तहँ धर्म है, जहां लोभ तहँ पाप।
जहाँ क्रोध तहँ काल है, क्षमा जहाँ तहँ आप ॥ १० ॥

कच्चा दिल वाला चंचल धैर्य रहित नर का हित के लिये भी यतन

करने कराने से उसका भंग (नाश) होता है, इसलिये साधु (पक्का स्थिर धैर्य से युक्त) नर को कञ्चन के समान तपाइये (तप आदि साधन कराइये) तो सवाई रंग (तेज) चढेगा ॥ ६ ॥ यतन में भंग (विघ्न-उपद्रव) ॥ ७ ॥ विवाद (विरुद्धवाद) रूप वाद (कथा) में घना (बहुत) विष (दुःख) है, और निष्प्रयोजन बोलने से भी बहुत उपाधि है, इसलिये मौन गह कर सबकी बात को सहे, और अगाध नाम को सुमिरे ॥ ८ ॥ क्षमायुक्त बली, गर्वरहित धनी, और कोमल (दयालु) विद्वान् ये तीन संसार में भूषण हैं, और सच्चा भक्त योगी गुणी आदि भी गर्वादि रहित अनन्त भूषण हैं ॥ ९ ॥ आप (सर्वात्मा हरि-आत्मस्थिति) ॥ १० ॥

इति क्षमा का अंग ॥

अथ सन्तोष का अंग ॥ २० ॥

सन्तोष ही सहिदान है, शब्द हि भेद विचार ।
सतगुरु के परताप ते, सहज शील मत सार ॥ १ ॥

गोधन गजधन वाजि धन, और रतन धन खान ।
जब आवै संतोष धन, सब धन धूलि समान ॥ २ ॥

साधू संतोषी सदा, जिनके निर्मल बैन ।
जिनके दर्शन परस ते, जिय उपजै सुख चैन ॥ ३ ॥

चाह गई चिन्ता मिटी, मनुवा बेपरवाह ।
जिन को कछू न चाहिये, सो साहन पति साह ॥ ४ ॥

निज आसन संतोष में, सहज रहनि की ठौर ।
गुरु भजने आशा भई, ताते कछू न और ॥ ५ ॥

सद्गुरु के प्रताप से जो सहजशीलता और सारमत प्राप्त होता है, उसका संतोष ही सहिदान (चिन्ह-लक्षण) है, और उसका भेद विचार

रूप महात्माओं के उपदेश रूप शब्द ही से जानने योग्य है ॥ १ ॥ संसार में गवादि रूप रतन और सुवर्णादि के खानिरूप धन हैं, परन्तु जब संतोष धन आता (मिलता) है, तो ये सब धन तुच्छ हो जाते हैं ॥ २ ॥ निर्मल शब्द विचार वाले साधु सदा सन्तोषी रहते हैं, जिनके दरश परस से भी अन्य को सुख शान्ति होते हैं ॥ ३ ॥ जिनकी इच्छा गई, इससे चिन्ता भी मिटी, इससे बेपरवाह मन है, इससे जिनको कुछ भी नहीं चाहिये, सो साहन के पतियों का भी साह (बादसाहों के बादसाह) हैं ॥ ४ ॥ सहज रहनी (सहज धारना) के ठौर (स्थान) रूप संतोष में जिनका आसन (स्थिति) है, उन्हें यदि आशा भी हुई तो गुरु भजन की आशा हुई, तिससे अन्य किसी की आशा न हुई, न हो सकती है ॥ ५ ॥

जग सारा दरिद्र भया, धनवन्ता नहिं कोय।
धनवन्ता सोइ जानिये, राम पदारथ होय ॥ ६ ॥
देनेहारा राम है, जाय जंगल में बैठ।
हरि को लेई ऊबरे, सात पताले पैठ ॥ ७ ॥
कबहुक मन्दिर मांलियां, कबहुक जंगल वास।
सब ही ठौर सुहावना, जो हरि होवै पास ॥ ८ ॥

राम पदार्थ की प्राप्ति से सर्वथा संतोषी ही धनी है ॥ ६ ॥ क्योंकि अन्य सब कुछ भी स्वयं देनेवाला राम है, चाहे जंगल में भी जाकर बैठो राम देहीगा। सात पाताल के नीचे पैठ कर भी हरि को लेकर सब दुःख से बलि के समान उबरता है ॥ ७ ॥ यदि हरि पास में हों तो चाहे कभी मन्दिर माला (पंक्ति) युक्त सहर में वास करो, वा कभी जंगल में बसो, सब स्थान सोहावन ही है ॥ ८ ॥

इति संतोष का अंग ॥

अथ समदृष्टी का अङ्ग ॥ २१ ॥

समदृष्टी सतगुरु किया, भरम किया सब दूर।
उजियारा भौ ज्ञान का, ऊगा निर्मल सूर ॥ १ ॥

समदृष्टी सतगुरु किया, भरम किया सब दूर।
दूजा कोइ दीखै नहिं, राम रहा भर पूर ॥ २ ॥

समदृष्टी सतगुरु किया, दीया अविचल ज्ञान।
जहँ देखो तहं एक ही, दूजा नाही आन ॥ ३ ॥

समदृष्टी सतगुरु किया, मेटा भरम विकार।
जहँ देखो तहं एक ही, साहब का दीदार ॥ ४ ॥

समदृष्टी सतगुरु किया, पाया मन विश्राम।
जो हम को दिन घालतो, गयो ब्रह्म के धाम ॥ ५ ॥

समदृष्टी तब जानिये, शीतल समता होय।
सब जीवन की आतमा, लखै एकसी सोय ॥ ६ ॥

साम्यदृष्टिवाला सद्गुरु को प्राप्त स्वीकार किया तो सो सद्गुरु शिष्य को भी समदृष्टि कर दिया, और सब भ्रम को नष्ट किया कि जिससे ज्ञान का उजियार (प्रकाश) भया, और निर्मल सूर्य (आत्मा) उगा (प्रकट हुआ) ॥ १ ॥ भ्रम के दूर होने से दूसरी कोई वस्तु सत्य नहीं दीखती है, किन्तु राम ही भरपूर हो रहा है ॥ २ ॥ सद्गुरु अविचल का ज्ञान दिया कि जिससे जहाँ देखो तहाँ एक ही सम सत्य भासता है, दूजा (विषम) अन्य नहीं भासता है ॥ ३ ॥ समदृष्टि दे कर भ्रम जन्य विकार (कामादि) को मेटा कि जिससे जहाँ देखो तहाँ एक ही साहब का दर्शन होता है ॥ ४ ॥ सद्गुरु ने समदृष्टि किया कि जिससे रागद्वेषादि के अभाव से मन विश्राम (शान्ति) पाया, इससे जो मन हमे दिन में भी घालता (अन्धरात्रि के तुल्य कष्ट देता) सो अब सदा के लिये

ब्रह्मस्वरूप धाम में गया ॥ ५ ॥ समदृष्टि तब जानना चाहिये कि जब व्यवहार काल में भी शीतल (क्षमा शान्ति युक्त) और समता युक्त हो, तथा शान्तिरूप समता युक्त हो । और सब जीवों की आत्मा को सो एकसी (तुल्य) देखे ॥ ६ ॥

इति समदृष्टि का अंग ॥

अथ गुरुमुख और मनमुख का अङ्ग ॥ २२ ॥

गुरुमुख गुरु चितवत रहै, जैसे मनी भुवंग।
कहैं कबिर बिसरै नहीं, यह गुरुमुख को अंग ॥ १ ॥

गुरुमुख गुरु चितवत रहै, जैसे साह दिवान।
और कबिर नहिं देखता, है वाही का ध्यान ॥ २ ॥

गुरुमुख (समदृष्टि गुरु के भक्त-गुरु की आज्ञाकारी) जीव सदा गुरु को ऐसे चितवत (समरता-ध्यान करता) रहता है कि, जिस प्रकार अपने मणि को सर्प स्मरण करता है, और वह गुरु को कब ही विसरता (भूलता) नहीं है, क्योंकि गुरुमुख को यह (स्मरण) अंग (स्वभाव-स्वरूप-देह) ही हो जाता है ॥ १ ॥ और जैसे साहु (श्रेष्ठ स्वामी) को उसका दीवान (मन्त्री आदि) स्मरण करता है, तैसे गुरुमुख गुरु का स्मरण करता है, और गुरु से और (अन्य) किसी को सत्यादि स्वरूप नहीं देखता है, क्योंकि समदृष्टि साक्षि स्वरूप उस गुरु का ही ध्यान उस शिष्य को है ॥ २ ॥

गुरुमुख गुरु आज्ञा चलै, छाड़ि देइ सब काम।
कहैं कबिर गुरु देव को, तुरत करैं परनाम ॥ ३ ॥

उलटे सुलटे वचन के, शिष्य न मानै दूख।
कहैं कबिर संसार में, सो कहिये गुरुमुख ॥ ४ ॥

गुरुमुख (गुरु प्रधान) जीव सब काम (फलेच्छा) को त्याग देवे, और गुरु की आज्ञा के अनुसार सत्कर्मादि मार्ग में चले, और मिलने पर सब कर्मादि को त्याग कर गुरुदेव को तुरत (शीघ्र) प्रणाम करे, तथा सत्कर्मादि करके शिघ्र ही सत्कर्मादि का प्रणाम (अर्पण) गुरुदेव के प्रति करे फलाशा को दूर भगावे ॥ ३ ॥ और सब संसार से उलटे (विपरीत-निष्कामता-वैराग्यादि बोधक) वचन के, तथा सुलटे (संसार के अनुसार बोधक) वचन के दुःख नहीं माने (उन में असाध्यता आदि नहीं समझे) तथा परीक्षा आदि के लिये कहे गये कठिन कोमलादि वचनों से दुःखी आदि नहीं होवे, सोई संसार में गुरुमुख कहा जाता है ॥ ४ ॥

गुरु से करै कपट चतुराई, सो हंसा भव भरमै आई।
जो सिष गुरु की निन्दा करई, शूकर श्वान गर्भ में परई ॥५॥

जो मनमुख (मनो वशवर्ती) गुरु से कपट (छल) करके लौकिक चतुराई करता है, सो हंसा (जीव) संसार में आकर बार २ भरमता है, और जो शिष्य हो कर गुरु की निन्दा करता है, सो शूकर श्वानादि हीन गर्भों (योनियों) में प्राप्त होता है, इसलिये गुरु से कपटादि त्यागना चाहिये ॥ ५ ॥

इति गुरुमुख और मनमुख का अंग ॥

अथ विभिचारिन का अंग ॥ २३ ॥

नारि कहावै पीव की, रहै और संग सोय।
जार सदा मन में बसै, खसम खुसी क्यों होय ॥ १ ॥

सेज बिछावै सुन्दरी, अन्दर पड़दा होय।
तन सौंपे मन दे नहीं, सदा दुहागिन सोय ॥ २ ॥

जो कोई पीव (स्वामी-ईश्वर) की नारि (स्त्री-भक्त) कहावै परन्तु और (अन्य-अनात्मा) के संग में सो (आसक्त हो) रहे, और उसके मन में सदा जार (असत्पति-विषयादि) बसे, तो खसम (स्वामी-ईश्वर) कैसे खुसी (प्रसन्न-प्रत्यक्ष) हो ॥ इससे परमात्मानुभवादि के लिये अन्य संगादि को त्यागना चाहिये ॥ १ ॥ जो सुन्दरी (स्त्री-भक्त की बुद्धि) स्वामी ईश्वर के लिये शय्या बिछावे, परन्तु उसके अन्दर अविद्या कृत पड़दा (आवरण) वर्तमान हो, तथा पड़दा के अन्दर हो कर रहे, और इस तन को कर्मादि में सौंपे (अर्पण करे) परन्तु मन नहीं देवे (मन का अर्पण नहीं करे) तो वह सदा दुहागिन (पति प्रभु से अनादृत) होती है ॥ २ ॥

कबीर मन दीया नहीं, तन करि डारा जेर।
अन्तरयामी लखि गया, बात कहन का फेर ॥ ३ ॥
नव सत साजै सुन्दरी, तन मन रहि संजोय।
पिय के मन मानें नहीं, विडंब किये का होय ॥ ४ ॥

यदि प्रभु के प्रति मन नहि दिया, और तप आदि से तन को जेर (जीर्ण-कृश) भी कर डारा (कर दिया) तो अन्तरयामी (प्रभु) ने मुख से बात कहने का फेर को भी लखि गया (मुख से भक्तादि कहाना भी झूठ समझा गया) ॥ ३ ॥ नव सत (सोलह शृंगार-सोलह कला) को सुन्दरी (स्त्री-बुद्धि) साजती (संभालती) है, परन्तु अपने तन मन से विषयादि में संयुक्त (आसक्त) हो कर रहती है, इससे यदि पिय (प्रभु) के मन में नहीं अच्छी लगती है, तो विडंब (वेषादि का विस्तार) करने से क्या फल हो सकता है ॥ ४ ॥

मुख से नाम रटा करै, निशदिन साधुन संग।
कहु धौं कौन कुफेर से, नाहिन लागत रंग ॥ ५ ॥

मन दीया कहिं और ही, तन साधुन के संग।
कह कबीर कोरा गजी, कैसे लागै रंग॥ ६॥

जो जिव मुख से प्रभु के नामों को सदा रटा (जपा) करता है, और रात दिन साधुओं के सङ्ग में भी रहता है, तो भी कहो (समझो) कि कौन (कोइ) मन का कुफेर (कुचाल) से ही रंग (प्रीति-प्रतीति) नहीं लगता है॥ ५॥ वह मन का कुफेर यह है कि मन को अन्य किसी पदार्थ में दिया (लगाया) है, केवल तन को ही साधुओं के संग में रखा है, तो कोरी (अधौत) गजी (पट) तुल्य अशुद्ध मन में ब्रह्मानन्द का रंग कैसे लगे॥ ६॥

रात जगावै राँडिया, गावै विषया गीत।
मारे लोंदा लापसी, गुरु न लावै चीत॥ ७॥

अशुद्ध मन वाला पुरुष समय पाने पर रात्रि को राँडिया (वेश्या आदि) को जगाता है, राँडिया का संग करता है, विषयों का गीत गाता है, और लपसी आदि भोग्य पदार्थों का लोंदा (पिण्ड) को मारता (भोगता) है, वह गुरु मे चित्त को नहीं लगाता है॥ ७॥

विभिचारिन विभिचार में, आठ पहर हुसियार।
कह कबीर पतिवर्त विनु, क्यों रीझे भरतार॥ ८॥

व्यभिचारिन व्यभिचार में ही सदा हुसियार (चतुर-सावधान) रहती है, तो पतिवर्त धर्म का पालन (अनन्य भक्ति-परप्रेम-विवेकादि) विना भर्ता प्रभु कैसे रीझै (प्रसन्नाभिमुख किस प्रकार होवै) इसलिये व्यभिचार को त्याग कर भक्ति विवेकादि कर्तव्य हैं॥ ८॥

धन गया तो कछु गया, स्वास्थ्य गये कछु और।
चरित गया तो सब गया, ताको मिलै न ठौर॥ ९॥

क्योंकि धन के जाने से थोरी हानि है, स्वास्थ्य के जाने से

उससे अधिक हानि है, परन्तु व्यभिचारादि से सच्चरित्र के जाने से लोक परलोकादि सब का नाश होने से उस जीव को कहीं ठिकाना नहीं मिलता है ॥ ९ ॥

विभिचारिन के वश नहीं, अपनो तन मन सोय ।
कह कबीर पतिवर्त विनु, नारी गई बिगोय ॥ १० ॥

कबीर या जग आइ के, कीया बहुतक मीत ।
जिन दिल बाधा एक से, ते सोवें निश्चींत ॥ ११ ॥

जो नारी (स्त्री-कर्मी जीव) इस जगत् (मानव देह) में आकर बहुत मित्र किया (बहुत को प्रिय समझा) और प्रियतम सर्वात्मा प्रभु को नहीं समझा, ऐसी व्यभिचारिन के अपना तन मन वश में नहीं रहता है, इससे पतिवर्त (अनन्य भक्ति आदि) विना नारी (स्त्री और कर्मी) विगोय गई (मनुष्यता आदि को व्यर्थ कष्ट करके गई) और जिसने व्यभिचार को त्याग कर पतिवर्त से दिल (मन) को एक से बाँधा (एक में लगाया) सो निश्चिन्त हो कर सोती है (समाधि सुख परमानन्द मोक्ष सुख का अनुभव करती है) ॥ १०-११ ॥

शुद्धं सर्वज्ञमव्यक्तं साक्षिसद्गुरुरूपिणम् ।
सत्यं सनातनं वंदे हरिमात्मानमक्षरम् ॥

॥ समाप्त ॥

अकारादि पद्यानुक्रमणिका

परम पूज्य अनन्त श्री विभूषित सद्गुरुदेव श्री स्वामी हनुमान दास जी साहब षट्शास्त्री जी द्वारा व्याख्यात तथा विरचित ग्रन्थों की नामावली

व्याख्यात ग्रन्थ

(१) बीजक भाष्य शिशुबोधिनी व्याख्या
(२) बीजक श्लोकबद्ध संस्कृत स्वानुभूति व्याख्या
(३) बीजक की संस्कृत हिन्दी व्याख्या
(४) बीजक की सारबोधिनी टीका
(५) बीजक की धनौती पाठ पर हिन्दी स्वानुभूति व्याख्या
(६) सटीक साखी ग्रन्थ भाग १-२
(७) शब्दामृत सिन्धु विरल टीका सहित
(८) तीसा यन्त्र टीका सहित
(९) तत्त्वार्थं मणिमाला सटीक
(१०) कबीर परिचय टीका सहित
(११) कबीर कौशल सार सटीक
(१२) संशय खण्डन टीका सहित
(१३) विचार सागर टीका सहित
(१४) अनन्त परिचय और अनन्त सागर सटीक
(१५) मनोबोध सटीक
(१६) ब्रह्मसूत्र की हिन्दी टीका
(१७) ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य की हिन्दी टीका
(१८) खण्डन खण्ड खाद्य की हिन्दी टीका
(१९) श्रीमद् भगवद् गीता की संस्कृत टीका
(२०) श्रीमद् भगवद् [illegible] हिन्दी टीका सहित
(२१) ईशावास्योपनिषद् [illegible] संस्कृत हिन्दी [illegible]
(२२) केनोपनिषद् की [illegible] हिन्दी टीका
(२३) विचार चन्द्रोदय
(२४) चित्सुखी, [illegible]
(२५) श्री कठोपनिषद् [illegible] संस्कृत हिन्दी टीका
(२६) भक्ति विवेक
(२७) वैराग्य प्रकाश
(२८) अध्यात्म प्रकाश

स्वतंत्र मौलिक रचनाएं

(१) अध्यात्म तत्त्व सम्वाद सटीक
(२) अध्यात्म तत्त्व सम्वाद मूल
(३) तत्त्वार्थ दोहावली
(४) तत्त्वार्थमणि मंजूषा सटीक
(५) तत्त्वार्थमणि मंजूषा मूल
(६) भक्त चरितामृत
(७) लघु धर्म चन्द्रिका
(८) सद्धर्म चन्द्रिका
(९) कबीर सन्देश
(१०) दिव्य नामावली
(११) भक्ति-भक्त भगवन्त स्तुति
(१२) बीजक सार संग्रह
(१३) सद्गुरु कबीर वेदादि वचन रहस्यैकता
(१४) श्री हनुमान वचनामृत
(१५) बीजक सुरहृदय